साकेत : विचार और विश्लेषण

साकेत
विचार और विश्लेषण

•

डॉ० वचनदेव कुमार
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची
डॉ० रमेश प्रसाद सिन्हा
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग,
ए० पी० एस० एम० कॉलेज, बरौनी
मिथिला विश्वविद्यालय

•

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

प्राक्कथन

आदिकाव्य से लेकर आज तक रामकथा ने जिस व्यापकता के साथ कविता को आकृष्ट किया है, उसी के प्रतिफलस्वरूप रामचरितमानस जैसे महनीय ग्रंथ की रचना के बाद भी हिन्दी में रामकाव्य परम्परा घोर वैज्ञानिकता से आवृत्त आधुनिक युग में भी निरन्तर चली आ रही है। क्रमशः शिल्प, युग-बोध और भावसत्ता के परिष्कार द्वारा इस कथा में आधुनिक जीवन मूल्यो की स्थापना होने लगी है। काव्य-सर्जना के स्तर पर अतीत को अर्थवत्ता प्रदान करने के लिए उसमें वर्तमान को प्रक्षेपित करने की दिशा में स्वर्गीय मैथिलीशरण गुप्त का महाकाव्य 'साकेत' अग्र पांक्तेय रहा है। खड़ी बोली की महाकाव्य शृंखला के इस गौरव ग्रन्थ द्वारा न केवल रामकाव्य की उपेक्षिता उर्मिला की चरित्र स्थापना हुई है, अपितु 'साकेत' में कवि ने रामकथा को युगीन सन्दर्भों के अनुरूप सांस्कृतिक परिवेश भी प्रदान किया है।

न तो शोध की आन्तरिक गरिमा और न समीक्षा की उदात्त भगिमा। बिना किसी अतिरिक्त आग्रह अथवा दुराग्रह के 'साकेत' विषयक विविध शास्त्रीय और प्रासगिक प्रश्नों को स्पष्ट करने का एक प्रयास प्रस्तुत है। 'साकेत-विचार और विश्लेषण' के द्वारा यदि इस विश्रुत चरितकाव्य की सरलतापूर्वक समझने की दिशा में गुप्त-काव्य के अध्येताओ की तनिक भी सहायता हो सकी तो यही इसकी उपलब्धि होगी।

—वचनदेव कुमार

अनुक्रम

●

●

●

साकेत के प्रेरणा-स्रोत

मानव की आदि-दुर्बलता है अवलम्ब और प्रेरणा के स्रोत की चिरंतन खोज जिससे उसे सतत अग्रसर होने की शक्ति प्राप्त होती रहती है।

प्रत्येक व्यक्ति की एक न एक विशेष स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार कवि की भी कोई शृङ्गार-प्रिय रसिक, कोई शौर्य का उद्भट उपासक, कोई कारुण्य को विनीतता मे व्यग्र, कोई निर्वेद का पुजारी, कोई दार्शनिक विचारों से अभिभूत, कोई प्रकृति-प्रागण का कल्पना-बिहारी, कोई अलंकार-प्रिय तो कोई भाव एवं अर्थ की गुरुता का आराधक। रुचि अपनी-अपनी, क्षेत्र अपना-अपना।

आत्मानुभूति की मार्मिक व्यंजना कविता का आवश्यक गुण है। बाल्य-कालीन वातावरण के संस्कार, पूर्ववर्ती साहित्य के अध्ययन, भूतकालिक जीवन में सचराचर विश्व के मनन और सामयिक विचारधारा के प्रभाव से जो अनु-भूतियाँ जागृत होती हैं, वही कविता है। बुद्धितत्व और कल्पना शक्ति के द्वारा पोषित करके जो व्यक्ति उन्हें व्यक्त करता है, वही कवि है अर्थात् किसी भी रचना की पृष्ठभूमि में चिन्तन का एक सुदीर्घ इतिहास है।

आज से अनेकानेक वर्ष पूर्व प्राचीन साहित्य का अध्ययन करते-करते एक दिन कवीन्द्र रवीन्द्र का हृदय काव्य के कुछ कोमल नारी-चरित्रों की निर्मम उपेक्षा देखकर सहसा विचलित हो उठा, और उनकी लेखनी से 'काव्येर उपे-क्षिता' शीर्षक निबन्ध निकल पड़ा। रवीन्द्र ने लिखा है—"संस्कृत साहित्य में काव्य-यज्ञशाला की प्रांतभूमि में जो कितनी ही नारियाँ अनादृत होकर खड़ी हैं उनमें प्रधान स्थान उर्मिला का है। हाय, अव्यक्त वेदना देवी उर्मिला, एक बार तुम्हारा उदय प्रात कालीन तारा की भाँति महाकाव्य के सुमेरु शिखर पर हुआ था। उसके बाद अरुण लोक में तुम्हारे दर्शन नही हुए। कहाँ तुम्हारा उदया-चल है और कहाँ अस्ताचल—यह प्रश्न करना भी सब भूल गए।"

इस लेख के प्रकाशित हो जाने के कुछ ही दिन बाद आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी को भी उर्मिला पर दया आ गयी और उन्होंने भी अपने मन के उद्गार को एक निबन्ध में व्यक्त किया। निबन्ध का शीर्षक था—'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता।'

प्रस्तुत निबन्ध के प्रकाशन-काल में युवक कवि मैथिलीशरण गुप्त द्विवेजी जी की छत्रच्छाया में ही स्वर-साधना कर रहे थे। अन्य कई काव्यों के प्रकाशन एवं उससे अर्जित ख्याति के बावजूद रामभक्त कवि गुप्त जी रामचरित पर दृष्टि लगाए एक ऐसा काव्य लिखने को आकुल थे जिसमें अपने कवि जीवन की अखण्ड तपस्या के सार को समाहित कर सकें। निश्चित रूप से 'साकेत' के प्रणयन में उक्त दोनों निबन्ध प्रेरणा-स्रोत रहे हैं।

प्रारम्भ में 'साकेत' का नामकरण प्रत्यक्ष उर्मिला के आधार पर किया गया था 'उर्मिला-उत्ताप'। यह नाम हिन्दी काव्य-जगत् में कुछ दिन सुनाई देकर फिर बिलुप्त हो गया। उसमे बाह्य-प्रेरणा का दबाव ज्यादा था, कवित्व में आत्म-चेतना अधिक थी। इसी कारण कवि के ब्रह्म ने इसे स्वीकार नही किया। कवि के मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठते-गिरते रहे, नानाविध विचार-विनिमय हुआ और इस प्रकार साकेत-भवन का निर्माण धीरे-धीरे होने लगा। 'साकेत' पूरे सोलह वर्षो में पूरा हुआ।

गुप्त जी तुलसीदास की तरह एक शाश्वत काव्य-सृजन तो चाहते ही थे, साथ ही अपनी रामभक्ति की भी पुष्टि करना उनके लिए वांछित था। यदि 'साकेत' में उपेक्षित ऐतिहासिक पात्रो के शील का उद्धार हुआ है तो दूसरी ओर भगवान् राम के प्रति वैष्णव-भावना भी मर्यादित हुई है। जैसे 'कविता करके तुलसी न लसे, कविता लसि पा तुलसी की कला', उसी तरह साकेत के सृजन में कवि गुप्त की कोई चातुरी नही बल्कि यह स्वयं राम के चरित्र का कमाल है। कवि ने इस बात को स्वीकार करते हुए लिखा है—

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।

परन्तु समर्थ होते हुए भी अपने को सामर्थ्यहीन कहना व्यक्ति की वाक्चातुरी एवं सरलता की निशानी है। वस्तुत. सृजन स्रष्टा के श्वास के धागों से बुना हुआ वस्त्र है जिस पर उसी के अनुराग का रंग चढ़ा रहता है।

रामकाव्य-परंपरा में साकेत का स्थान

'साकेत' का प्रकाशन हिन्दी-साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। एक तो रामभक्ति-परंपरा का यह एक अतीव सुन्दर पुष्प है, दूसरे गुप्त जी की पचास वर्षों की काव्य-साधना की यह प्रतिनिधि रचना है और तीसरे हिन्दी साहित्य में प्रथम श्रेणी का महाकाव्य है। इसका महत्त्व ऐतिहासिक होने के साथ-साथ काव्यात्मक दृष्टि से भी है। रामकाव्य की परंपरा को देख लिया जाय तो 'साकेत' के महत्त्वाकन मे सुविधा होगी।

विष्णु की भक्ति अत्यन्त प्राचीन काल से भारत के प्रायः सभी भागों में प्रचलित रही है। ससार के धर्मों में भी विष्णु प्रधान रहे है जिसे भारतेन्दु जी ने अपने एक लेख में स्पष्ट किया है। सबसे पूर्व ऋग्वेद में विष्णु का उल्लेख है। पुराणो के बाद विष्णु को प्रधानता मिलती गई। उन्हे सर्वव्यापक रूप में अधिष्ठित कर ब्रह्मा, महेश व अन्य देवी-देवताओं को भी उन्ही का रूप माना गया। भागवत धर्म के अनुसार स्वयं विष्णु भगवान ने इस धर्म का उपदेश ब्रह्मा को दिया, ब्रह्मा ने नारद को, नारद ने व्यास को—तदनन्तर इसका उत्तरोतर लौकिक प्रचार होता गया। मनुष्य की भावनाओं के अनुसार अवतार बढते गए। विष्णु के रूप भी बढ़े जिसमें अत्यधिक प्रचलित एवं जनप्रिय रूप दो हुए—राम और कृष्ण। दार्शनिक रूप से भी मध्यकाल में इनकी यथेष्ट चर्चा हुई है और साहित्य में भक्ति भाव-प्रेरित कविता भी।

एक बात पर ध्यान जाता है कि वैष्णव भक्ति के प्रचार-प्रसार में जितना हाथ दक्षिण भारत के विद्वानों का रहा है उतना उत्तर के भक्तो या विद्वानों का नही। तत्कालीन परिस्थितियाँ ही इसका प्रमुख कारण मानी जा सकती है। हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत की एकता टुकडों-टुकड़ों में बँट गई; विदेशी आते गए और संघर्षमय जीवन में दार्शनिक तर्क-वितर्क; व्याख्या, खण्डन-मण्डन का उतना अवसर नहीं रहा। विदेशी आक्रमणों से तो भक्ति-भावना समाप्त-सी हो रही थी, देवी-देवताओं पर से विश्वास ही उठता जा रहा था। किन्तु, भक्ति दक्षिण में फलती-फूलती रही। आलवार आदि भक्तों ने इसकी सैद्धान्तिक चर्चा भी की। आठवी सदी में शंकर ने अद्वैत मत का प्रचार किया। ज्ञान को

प्रधानता दी, मोक्ष को लक्ष्य बनाया, वैयक्तिक साधना—विवेक पर जोर दिया। लगभग दो सौ वर्षो तक तो इसी अद्वैत की प्रधानता उत्तर-दक्षिण में रही। फिर दक्षिण के ही विद्वानो ने उसी 'प्रस्थानमयी' (उपनिषद्, गीता एवं ब्रह्मसूत्र) के आधार पर शाकर अद्वैत का खण्डन आरंभ कर दिया। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को प्रधानता दी। विष्णु-भक्ति का दार्शनिक आधार प्रस्तुत करने वाले विद्वान हुए। रामानुजाचार्य, बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी, निम्बार्क आदि। विष्णु को सभी ने ब्रह्म माना है पर निरूपण अलग-अलग पद्धतियो पर किया है बाद में रामानुज के शिष्य रामानन्द ने सीता-राम की उपासना चला दी। राम विष्णु के ही अवतार माने गए। महत्त्व स्वीकार करते हुए डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने यहाँ तक लिखा है कि—"सच पूछा जाय तो मध्य युग की समग्र स्वाधीन चिंतन के गुरु रामानन्द ही थे।"—(हिन्दी साहित्य की भूमिका)

संस्कृत साहित्य मे राम भक्ति सम्बन्धी पहली रचना है वाल्मीकि रामायण। इसमें चाहे परवर्ती अंश हो पर आने वाले राम-कवियो ने किसी न किसी रूप में इसकी सहायता अवश्य ली है। वाल्मीकि के राम एक लौकिक पुरुष है, न तो वे अवतार हैं, न उनका विष्णु से कोई सम्बन्ध ही है। वे केवल मर्यादा पुरुषोत्तम आदर्श मनुष्य है। कवि की खोज ही यह थी कि ससार मे गुणवान, धर्मवान पुरुष कौन है !

'कोन्वस्मिन् साप्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्'—की पुकार थी। अन्य कवियों ने राम को धीरोदात्त नायक के रूप में चित्रित किया। 'रघुवंश' एवं 'उत्तर रामचरित' में उन्ही से सम्बद्ध कथा है।

यह बताना जरा कठिन है कि राम को अवतारी रूप कब दिया गया। उल्लेख तो सर्वप्रथम 'वायुपुराण' में मिलता है जहाँ उन्हें विष्णु का अवतार कहा गया है पर उसकी तिथि अनिश्चित है। 'अध्यात्म रामायण' के राम तथा ब्रह्म में कोई अन्तर नही। ऐसा मालूम पड़ता है और मेरा तो विश्वास है कि इस अवतारवाद का सम्बन्ध हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान से होना चाहिए। भारतीय इतिहास में यह समय है शुगो का, जिसका पूर्ण विकास गुप्त राजाओं के समय हुआ। यदि ईसा की दूसरी-तीसरी सदी इसे अवतारी रूप देने की मानी जाय तो अमान्य न होगी क्योंकि जनता की यह प्रवृत्ति धर्म के अन्य रूपों में भी लक्षित हो रही थी। जनता केवल राम-कृष्ण को ही अवतारी रूप नही दे रही थी अपितु गौतम बुद्ध तक को विष्णु का अवतार बनाने में लगी थी। जो भी हो राम अवतार होकर देवता बन गए।

दक्षिण में प्रवाहित भक्ति-धारा को उत्तर भारत में रामानन्द सीताराम की

भक्ति के रूप में ले आए —

'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानन्द ।'

सारे देश में इन्होंने भ्रमण किया और सीताराम की उपासना का प्रचार किया। भक्ति के क्षेत्र में इन्होने प्रत्येक का समान स्तर स्वीकार कर लिया था, जाति-पाँति का भेद हटा दिया था, फलत. निम्न जाति वाले भी उनके शिष्य होते चले गये ।

रामानन्द की शिष्य-परंपरा मे ही कबीर दास हुए जिन्होंने राम-नाम का मत्र लिया पर उसे निर्गुण-सगुण के ऊपर प्रतिष्ठित किया। कबीर के राम 'दशरथ-सुत' होने पर भी अद्वैत के प्रतिरूप हैं । उनके राम सर्वत्र व्याप्त है—

'पुहुप वास तै पातरा ऐसा तत्त अनूप ।'

उनकी केवल अनूभूति हो सकती है। उनके स्वरूप मे मग्न रहना भक्त-साधक का लक्ष्य है। कही उन्हे प्रिय के रूप में तथा भक्त को प्रियतमा के रूप में प्रतिष्ठित कर रहस्यात्मक संकेत भी किए है ।

रामानन्द की परंपरा मे दूसरी ओर रामभक्त कवि हुए गोस्वामी तुलसीदास । ये इतने कट्टर राम भक्त थे कि प्रत्येक रचना में जीवन भर रामकथा ही गाते रहे। कृष्ण के सामने भी तब मस्तक नवाने को तैयार हुए जब वे धनुष-बाण ग्रहण करें। स्तुति प्रत्येक देवता की की है पर अन्त में माँगी सबसे राम-भक्ति ही है—

माँगत तुलसिदास कर जोरे,
बसहु रामसिय मानस मोरे ।

× × ×

जनम जनम रघुपति भगति, यह वरदान न आन ।

जिसके सामने उन्होंने धर्म, अर्थ, काम यहाँ तक कि निर्वाण पद भी ठुकरा दिया।

रामचरित का आधार लेकर तुलसी ने मानव-जीवन की जितनी पूर्ण एवं व्यापक समीक्षा की उतनी हिन्दी के किसी कवि ने नहीं। सेव्य-सेवक भाव की भक्ति को ही चरम आदर्श के रूप में उन्होंने प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा है—

'सेव्य सेवक भाव बिनु भव न तरिय उरगारि।'

उन्होने राम के लोकरक्षक एवं लोकरंजक रूपों पर विशेष ध्यान देकर समन्वयात्मक दृष्टिकोण रखा जो मानव-समाज का उपकारक हो सके। राज-नीति, समाज, दर्शन, धर्म, साहित्य—सर्वत्र समन्वय का आदर्श ही तो तुलसी ने उपस्थित किया है। 'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा' कहकर वैषम्य मिटाया तो 'पुनि रघुवीरहिं भगति पियारी' कहकर रामभक्ति की श्रेष्ठता भी बनाये

रखी । बल्कि व्यक्ति राम से उनका नाम ही बड़ा है जिसका जाप कर कोई भी भवसागर पार उतर सकता है । तत्कालीन मत-मतांतरो मे दिग्भ्रमित मानव जाति को इससे बड़ा आशाप्रद संदेश और कौन देता ? राम-नाम स्मरण करने की ही वह रामबाण औषधि खोज निकाली कि अजामिल जैसे पातकी स्वर्ग पहुँच गए । 'मानस' में राम की रावण पर विजय दिखाकर एक जीवन संदेश भी दिया कि सत् पक्ष निरंतर असत् पक्ष पर विजयी होता है ।

'रामचरितमानस' के अतिरिक्त तुलसी ने कवितावली, गीतावली, वैराग्य संदीपनी, विनयपत्रिका, रामलला नहछू आदि रचनाओ में भी रामकथा को ही वर्ण्य वस्तु बनाया है । भक्ति में वे इतने राममय हो गए थे कि वर्णन वही होने पर भी सर्वत्र सौन्दर्य, आकर्षण बना रहता है । और सौन्दर्य है ही क्या—"क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति सदैव रूपं रमणीयतायाः ।" तुलसी का भावपक्ष जितना विस्तृत तथा गहन था उतना ही कलापक्ष प्रौढ़ और सशक्त भी । भाव और भाषा पर इतना अधिकार किसी अन्य हिन्दी कवि का नही मिलता ।

तुलसी के समकालीन रामभक्त कवियों में स्वामी अग्रदास तथा नाभादास प्रधान हैं । अग्रदास की चार पुस्तकें हैं—हितोपदेश, ध्यानमंजरी, राम ध्यान-मंजरी तथा कुण्डलियाँ । कविता नंददास के ढंग की है—

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा,
तिनके निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा ।
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए,
मुख पंकज के निकट मनो अलि छौना छाए ।

नाभादास की प्रसिद्ध पुस्तक है 'भक्तमाल' । ब्रजभाषा गद्य में भी 'अष्टयाम' नाम से इनकी एक रचना मिलती है । इन्होंने तुलसी को वाल्मीकि का अवतार कहा है और उन्ही के पदचिह्नों पर चलते हुए रामकथा का वर्णन किया है । भक्ति-भावना की अपेक्षा कवित्व इनमें कम मिलता है ।

प्राणचन्द चौहान का नाम भी रामभक्त कवियों में उल्लेखनीय है जिन्होंने 'रामायण महानाटक' की रचना की । नाटक तो यह क्या है, हाँ, कथोपकथन नाटकीय अवश्य है । यह न तो अभिनेय है, न इसमें चरित्रों का उपयुक्त विकास ही हुआ है । इसकी भाषा ठेठ अवधी है । जनसाधारण के लिए लिखी जाने के कारण यह अत्यन्त सरल है । इसकी शैली जायसी से प्रभावित मालूम पड़ती है—

कातिक मास पच्छ उजियारा ।
तीरथ पुन्य सोम कर वारा ॥

ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना।
शाह सलेम दिलीपति थाना॥
आदि पुरुष वरनौ केहि भाँती।
चाँद सुरज कहँ दिवस न राती॥

हृदयराम ने सं० १६०० में 'भाषा हनुमन्नाटक' की रचना की। इसकी भाषा परिमार्जित व्रजभाषा है। नाटक में भी दोष कम है! काव्य-चमत्कार, सौन्दर्य इन्होंने अच्छा प्रदर्शित किया है। सस्कृत में इसी शीर्षक का नाटक गद्य-पद्य दोनों में है पर यह केवल पद्य में हैं। इसमे कवित्त-सवैयों का व्यवहार हुआ है।

इसी समय रायमल्ल पाण्डे ने 'हनुमच्चरित' लिखा जो काव्य की दृष्टि से महत्त्व नही रखता। गोस्वामी तुलसीदास का प्रकाश कुछ ऐसा छाया रहा और इतना व्यापक वर्णन वे कर गये कि परवर्ती सामान्य कवियो के लिए कुछ रहा ही नही। असल में 'सूरसागर' की भाँति 'रामचरितमानस' भी किसी पूर्व-परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास मालूम पड़ता है। क्योंकि एका-एक इतनी प्रौढ़ रचना, वह भी सर्वप्रथम बिना परंपरा के कठिन ही होती है चाहे कवि कितना ही 'नाना पुराणनिगमागम सम्मत' क्यों न हो।

रामकथा की दृष्टि से केशवदास की 'रामचन्द्रिका' महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। कुछ आलोचक तो आज भी उसके कला-सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। केशव को प्रेरणा वाल्मीकि से मिली। अतः वाल्मीकि रामायण का प्रभाव तो पड़ा ही, अन्य संस्कृत रचनाओं—प्रसन्नराघव, हनुमन्नाटक, अनर्घ राघव, कादम्बरी, नैषधीय चरित आदि का भी प्रभाव है। सस्कृत के तो वे पण्डित ही थे। 'रामचन्द्रिका' ३९ प्रकाशों में विभक्त है। एक प्रकाश में एक प्रसंग है। इसमें घटनाओं का पारस्परिक संबंध मालूम नही होता। बीच में आक-स्मिक रूप में कथा-प्रवाह बदल दिया गया है। राम-परशुराम के संघर्ष मे तो स्वयं शिव भगवान को आना पड़ा है। केशव ने प्रायः रामकथा की बड़ी-बड़ी घट-नाओ को स्थान दिया है। दृश्य वर्णनों में वे अलंकारों एवं क्लिष्ट कल्पना की ओर बढ़ गए है। पंचवटी की तुलना धूर्जटी से की तो नदी के वर्णन मे श्लेष से चिपक गए—

विषमय यह गोदवरी अमृतन को फल देति,
केशव जीवन हार कौ दुख अशेष हर लेति।

शरद् ऋतु को वृद्धा दासी बना दिया है तो उन्होंने सूर्य की उपमा लाल मुख वाले बन्दर से दे डाली है। फिर भी उन्हें हृदयहीन नहीं माना जा सकता क्योंकि

जहाँ प्रवृत्ति रमी है, वर्णन बड़े भावपूर्ण है। विरहिणी सीता का एक सुन्दर वर्णन देखिए—

धरे एक बेनी मिली मैलि सारी।
मृणाली मनौ पंक तैं काढ़ि डारी।।
सदा राम नामै रहैं दीन वानी।
चहूँ ओर है एक सी दुख दानी।।

केशवदास वस्तुतः अलंकारप्रिय थे इसलिए क्लिष्टता प्राय आ गई है और उन्हे 'कठिन काव्य का प्रेत' कहा जाता है। छन्दो की विविधता तो इतनी है मानो उनके निरूपण हेतु ही रचना कर रहे हो। 'रामचन्द्रिका' तो छन्दों का अजायबघर कही जा सकती हे। फिर भी रामकाव्य-परपरा में यह प्रसिद्ध रचना है।

रीतिकाल मे भी रामकाव्य लिखे जाते रहें। सेनापति के इष्टदेव राम थे। अलंकारप्रिय होने पर भी इनमें तुलसी की तन्मयता एवं भक्ति-भावना के दर्शन हो जाते हैं। 'राम रसायन' मे सेनापति ने दैन्य-भावना बड़ी मार्मिकता से व्यक्त की है। संसार की नश्वरता, राम की एकमात्र शरण में रक्षा आदि संबंधी विचार स्थान-स्थान पर मिलते हैं।

भिखारीदास ने रामकथा का आधार लेकर 'रघुनाथ नाटक' की रचना की। जितना भाग मिला है उसमें राम के प्रति शृङ्गारिक भावना का उल्लेख मिल जाता है। यह प्रमाणित करता है कि कृष्ण-राधा का लौकिक रूप-वर्णन इतना सामान्य होता जा रहा था कि सीताराम भी उसके प्रभाव से बच नहीं सके थे। 'राम पंचायतन' का एक वर्णन देखिए—

बाम ओर जानकी कृपानिधान के विराजै,
धरे भुजा अस देखे नृत्य सुखकारी है।
भरत लषन सत्रुघ्न खवावही पान,
चँवर डुलावै गावै तन को सँभारी है।
अतर अबीर औ गुलाल छूटै चहुँ दिसि,
देखै सुर कौतुक विमान चढ़ि भारी है।
विष विष देखि कै सुवाँगा रीझि रीझि हंसे,
दास यह औसर की जान बलिहारी है।

तत्कालीन राजसी विलासी वातावरण में यही काम तो शेष रह गया था कि देवर भाभी को पान खिलाते रहें, इत्र-गुलाल उड़ता रहे और अनुनायक सेवक

यह कौतुक देखता रहे। बेचारे तुलसी को शायद स्वप्न मे भी यह ध्यान न हुआ होगा कि उनके सीताराम की ऐसी हालत हो जाएगी।

रीवाँ नरेश महाराज विश्वनाथ सिह सगुण राम के उपासक थे। इस सम्बन्ध में उनकी ८ पुस्तकों का उल्लेख होता है—आनन्द रघुनन्दन, गीता रघुनन्दन शतिका, रामायण, गीता रघुनन्दन प्रामाणिक, विनयपत्रिका की टीका, रामचन्द्र की सवारी, आनन्द रामायण तथा संगीत रघुनन्दन।

महाराज रघुराज सिह की रामभक्ति-संबंधी प्रधान रचनाएँ हैं—रामस्वयंवर, रामाष्टयाम, आनन्दाम्बुनिधि आदि। स्वयं राजा ने राम के ऐश्वर्य, मृगया का भी सुन्दर वर्णन किया है। सखी सम्प्रदाय का इन पर बहुत प्रभाव मालूम होता है। सीताराम के झूलने का वर्णन देखिए—

आवत भीजत दोऊ हो,
सरयू तीर कदंम झूलन हित सखि सब कोऊ हो।
परबत मंद-मद घन कुन्दन चुवत अरुण पट हो;
कै पटुका लै ओट करन कर वै अंचल पट हो।

जानकी रसिक शरण की 'अवधी सागर' रचना रामकथा ठेठ अवधी में कही गई है। सीताराम की शृङ्गारी चेष्टाओ—रास, नृत्य, बिहार आदि का मर्मस्पशी वर्णन है। जनकराजकिशोरी शरण ने भी रामसीता का शृङ्गारी रूप ही प्रधान रखा है जो कही-कही असंयत भी हो गया है।

१९वीं सदी तक इसी प्रकार की अनेक राम भक्ति संबंधी रचनाएँ होती गईं जिनका रूप विलासपूर्ण ही होता गया। नवल सिंह कायस्थ, प्रताप सिंह, नवीन कवि, रसिक गोविन्द आदि राम-कथा-गायन करते रहे। 'श्री रामावतार भजन तरंगिणी' में तो गुह्य रहस्य एवं माधुर्यपूर्ण भावना भी प्रविष्ट हो गई है और अत्यन्त अश्लीलता घुस गई है—

हमारे प्रिय ठाड़े सरजू तीर,
छोड़ि लाज मैं जाय मिली जहँ खड़े लखन थे वीर।
मृदु मुसकाय पकरि कर मेरो खैंचि लियो तब चीर,
झाऊ वृक्ष को झाड़ी भीतर करन लगे रति धीर।

मतिराम के लला तो ताक-झाँक ही करते रहे। इन रामभक्त कवियों के राम दो कदम और बढ़कर वहाँ पहुँच गए जहाँ की कल्पना भी नही हो सकती।

आधुनिक हिन्दी काव्य में यह ह्रास-शील राम-संबंधी कविता बिलकुल ही छोड़ दी गई। द्विवेदी-युगीन काव्य हिन्दी में पुनरुत्थान का युग था, उनके वर्ण्य विषय पौरणिक हुए और राम पुनः मौलिक रूप में प्रतिष्ठित किए गए। अनेक

कवि इस ओर प्रवृत्त हुए । भारतेन्दु के पिता ने ही रामकथामृत, श्री राम स्तोत्र, श्री रामाष्टक आदि रचनाएँ की और वाल्मीकि रामायण का पद्यानुवाद किया । रामकथा का नया विकास बीसवीं सदी की प्रमुख विशेषता है । राम-चरित उपाध्याय ने 'रामचरित चितामणि' की रचना की । भाषा आरम्भिक खड़ी बोली होने से कही-कही गद्यवत् हो गई है ।

हरिऔध जी ने 'वैदेही वनवास' मे रामकथा को आधार बनाया । कृष्ण की भाँति वे राम को भी नरत्व की ओर ले आये है । सीता-निर्वासिन का अश उन्होने विशेषतः लिया है जो भवभूति के 'उत्तर रामचरित' के अनुकरण पर है । करुणा को ही उन्होंने भी 'एको रस.' माना है जो शृंगार को भी सहायता देता है । उनके मतानुसार तो बिना करुणा के शृंगार का पूर्ण रूप निखरता ही नही । आदर्श भावना, राष्ट्रीयता तथा विश्वप्रेम यहाँ भी सीता मे परिलक्षित होते है । वात्सल्य एवं प्रकृति-चित्रण का सुन्दर निर्वाह हुआ है । वसत में वनस्थली का चित्र देखिए—

कितने पादप लाल लाल कोपल मिले,
ऋतुपति के अनुराग रंग मे थे रँगे ।
बने मजु परिधान छाय बहु विटप,
शाखाओ में हरित नवल दल के लगे ।

इसके पश्चात् रामभक्ति-वाटिका का अनुपम पुष्प गुप्त जी का 'साकेत' है । वस्तुतः तुलसी के बाद रामकथा का इतने विशद रूप में वर्णन किसी कवि न नही किया । उनके राम युग के अनुसार सर्वव्याप्त है, उनके एकमात्र आराध्य है जिनका लक्ष्य है . उद्धार और शाति-स्थापना । स्वर्ग का संदेश वे नही लाते, इसी भूतल को स्वर्ग बनाने आते है—

मैं आया जिसमें बनी रहे मर्यादा,
बच जाय प्रलय से मिटे न जीवन सादा ।

'राम की शक्तिपूजा' शीर्षक कविता में निराला ने राम के साधक रूप को उत्कृष्ट माना है । वे दुर्गा की पूजा करते है और अपने नेत्रो की आहुति देने को तैयार हो जाते हैं । इस वर्णन में बगाल की शक्ति-उपासना का प्रभाव है—

निशि हुई विगत नभ के ललाट पर प्रथम किरण,
फूटी रघुनन्दन के दृग महिमा ज्योति हरण ।

निराला ने 'तुलसीदास' शीर्षक एक काव्य भी लिखा है ।

डॉ० बलदेव प्रसाद मिश्र ने एक महाकाव्य लिखा है—'साकेत-संत' । इसमें

रामकथा के अंतर्गत भरत-माण्डवी के वृत्त को प्रधानता दी गई है। असल में में गुप्त जी के 'साकेत' से ही कवि को प्रेरणा मिली होगी। इसके भी संवाद वर्णन बडे सजीव है। भरत माण्डवी को 'अवनी का प्यार' कह देते है तो माण्डवी उन्हे हृदय मे स्थापित कर स्वयं आरती बन जाना चाहती है—

तुम्हारे चरणों की ले चाल,
चलें अब उस पर बाल मराल।
तुम्हारे लख अरु अभिराम,
कलम का भूल जायँ सब नाम॥

इसके बाद केदार नाथ मिश्र 'प्रभात' जी की 'कैकेयी' आती है। इस काव्य मे कवि ने रामकथा की तिरस्कृत एवं घृणित पात्री कैकेयी के चरित्र का उद्धार करना चाहा है। कवि 'प्रभात' को भी यह प्रेरणा 'साकेत' से ही मिली होगी क्योकि 'साकेत' में उर्मिला के चरित्र को उभारा एवं सँवारा गया है।

रामकथा की इस दीर्घ परम्परा मे 'साकेत' का स्थान एव महत्त्व स्पष्ट है। जिस समन्वय को लेकर तुलसी के राम जीवन मे प्रवृत्त हुए थे उसी को लेकर गुप्त जी के राम भी। गुप्त जी ने तुलसी को भी स्मरण कर लिया है—

तुलसी यह दास कृतार्थ कभी,
मुँह में हो चाहे स्वर्ण न भी।
पर एक तुम्हारा पत्र रहे,
जो निज मानस कवि कथा कहे।

'साकेत' में समन्वय-भावना सर्वत्र मिलेगी—समाज में भी और व्यक्ति के जीवन में भी। उसका सन्देश ही यह है—

व्यथा रहे पर साथ-साथ ही समाधान भरपूर।

× × ×

सखे! समन्वय करो युक्ति या मुक्ति से

चरित्रों में मानवीय गुणो एवं त्रुटियों का निदर्शन है। इसमे राष्ट्रीयता की भावना है। 'साकेत' हमारे जीवन का प्रत्येक पक्ष सामने ला रखता है—राम-रावण युद्ध को ही उन्होने आर्य-अनार्यो का युद्ध बना दिया हे! राम की विजय भारतीय संस्कृति की विजय है—

आर्य-सभ्यता हुई प्रतिष्ठित आर्य-धर्म आश्वस्त हुआ।

'साकेत' का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। पौराणिक होने पर भी वह नवीन महाकाव्य है। यह भारतीय संस्कृति का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता, वरन् आधुनिक युग में बीसवी सदी के पिछले पचास वर्षों को भी समेट लेता है।

जैसे गंभीर महासागर मे शताधिक धारा-प्रवाह आते है, परस्पर टकराते है, फिर एक होकर समुद्र के अंश बन जाते है; उसी प्रकार 'साकेत' में अनेक बातें पचा ली गई है। विषय भी, सिद्धान्त भी, शैली भी, जो कभी-कभी सिर उठाकर पाठकों को अपनी अलग झाँकी देती रहती है।

'साकेत' आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ रामकाव्य है। मौलिक चिन्तन और कल्पना-उन्मेष की दृष्टि से ही नही, विषय की दृढ पकड़ की दृष्टि से भी उसने अपने अनुकरण में लिखे गये बलदेव उपाध्याय के 'साकेत-संत' और प्रभात जी की 'कैकेयी' को आगे न आने दिया। उपाध्याय जी ने कैकेयी के वरो को उसके विवाह की शर्त माना है और शत्रुघ्न के द्वारा मंथरा को दीवार से रगड़वाकर उसके कूवड से खून निकलवाया है। पर इससे काव्य का कोई मनोरथ सिद्ध नही होता। ये चित्र हमारे सौन्दर्य-संस्कार के प्रतिकूल पड़ते है। मर्यादा की रक्षा के अधिकारी गुप्त जी ही है क्योंकि आधुनिक बुद्धिवाद का प्रभाव उनके विश्वास पर नही पड़ा है।

साकेत : रामकाव्य का पुनर्मूल्यांकन

रामकथा के मूल-स्रोत के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। लासेन के अनुसार रामकथा आर्यों के दक्षिण-अभियान का रूपक है। बेबर के अनुसार रामायण आर्य-सभ्यता के दक्षिण-विस्तार का रूपक तो हो सकता है, पर रामकथा के दो मूल-स्रोत हैं—'दशरथ जातक' और 'होमर का काव्य'। बेबर का कहना है कि रामकथा का मूल रूप 'दशरत जातक' मे वर्तमान है, जिसमे न तो सीताहरण का उल्लेख है, न राम-रावण-युद्ध का। पर अधिकतर विद्वान् इस बात से सहमत नही है, क्योंकि 'दशरथ जातक' स्वयं वाल्मीकि की रामकथा के बिगड़े स्वरूप को उपस्थित करने वाला है और होमर के काव्य तथा अन्य यूनानी रचनाओं से कोई अन्य समानता न मिलने के कारण रामायण और होमर के काव्य का सम्बन्ध भी निराधार है। याकोबी के मत में रामकथा के दो भाग हैं। दोनो आगे चलकर एक हो गये। प्रथम भाग अयोध्या सम्बन्धी घटनाओं का है और दूसरा रावण-सम्बन्धी घटनाओं का। याकोबी के मत में प्रथम भाग ऐतिहासिक है, मूलतः किसी इक्ष्वाकु वंश के निर्वासित राजकुमार की कथा पर आधारित। दूसरे भाग का सम्बन्ध वैदिक देवताओं से है। इस मत के अनुसार वेद में वर्णित कृषि की देवी सीता ही विकसित होकर रामायण की सीता बन गई। सीतापति इन्द्र राम बन गये। इन्द्र द्वारा वृत्रासुर-वध रावण-वध में परिवर्तित हो गया और इन्द्र की कृषक-प्रजा की गायो का पाणियों द्वारा होने वाला हरण सीता-हरण का रूप ले बैठा। दिनेशचन्द्र सेन का कहना है कि प्रथम भाग का आधार उत्तर का 'दशरथ जातक' है तो दूसरे भाग का संबल दक्षिण में प्रचलित रावण-आख्यान है। वैदिक काल में विष्णु इन्द्र से अधिक महत्त्वपूर्ण बन गए और धीरे-धीरे इन्द्र के स्थान पर समासीन हो गये। शायद और आगे चलकर विष्णु के अवतारी रूप में राम प्रतिष्ठित हुए।

वेद में रामायण के अनेक पात्रों, जैसे—इक्ष्वाकु, परशुराम, दशरथ, राम और सीता के उल्लेख मिलते हैं; पर रामकथा अथवा इन पात्रों के परस्पर सम्बन्ध के नहीं। राम की गणना ऋग्वेद में दानी और पराक्रमी यजमानो में की गई है—

प्रतद्दु' शीमे पृथवाने वेने प्रामे वोचमसुरे मघवत्सु ।
येयुक्त्वाय पंम शतास्मयु यथा विश्राव्येषाम् ॥

ऋग्वेद की सीता कृषि की देवी है । अनेक स्थलों पर खेती के प्रसंग में उसकी वन्दना की गई है और उसे इन्द्रपत्नी कहा गया है—

इन्द्र' सीतं निगृह्णतु तं पूषाभि रक्षतु ।
मा न पयस्वती दुह्रामुत्त रामुत्तरां समाम् ॥

ऋग्वेद में दशरथ का उल्लेख एक ऐसे राजा के रूप में मिलता है, जिनके चालीस भूरे घोड़े सहस्त्र घोड़ों के आगे-आगे चलते थे । 'शतपथ ब्राह्मण' और 'छान्दोग्य उपनिषद' में अश्वपति कैकेय का विवरण कैकेय देश के ऐसे राजा के रूप में दिया गया है, जिनके पास पंडित ब्राह्मण भी ज्ञान की शिक्षा के लिए जाते थे । राजा जनक के, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में रामायण के अन्य पात्रों की अपेक्षा ज्यादा है, अनेक प्रसंग 'तैत्तिरीय ब्राह्मण', 'शतपथ ब्राह्मण', 'बृहदारण्यक उपनिषद्' आदि में मिलते हैं । सभी स्थलों में वे एक ज्ञानी राजा के रूप में चित्रित हैं । इस प्रकार रामकथा के अनेक पात्रों का उल्लेख वैदिक साहित्य में हुआ है और उनके चरित्रों की प्रमुख विशेषताएँ भी निर्दिष्ट हुई हैं, किन्तु उनके परस्पर सम्बन्ध का आभास नहीं मिलता ।

बौद्ध त्रिपिटक के आधार पर कहा जा सकता है कि राम-गाथाएँ वाल्मीकि के पहले ही प्रचलित हो चुकी थीं, क्योंकि न तो ये गाथाएँ ही वाल्मीकि की रामकथा पर आधारित होती हैं और न वाल्मीकि-रामायण ही बौद्ध-गाथाओं पर, बल्कि दोनों ही किसी पुरानी रामकथा सम्बन्धी गाथा पर निर्भर जान पड़ती हैं । अनुमान किया जाता है कि छठी शताब्दी ई० पू० तक ये गाथाएँ प्रचलित हो चुकी थीं । इन्ही गाथाओं अथवा रामाख्यान-काव्यों को समेटकर वाल्मीकि ने अपनी रामायण लिखी । इस रामायण में कुल पाँच कांड थे । बालकांड और उत्तरकाड की कथा नही थी । इसमें अवतार का उल्लेख भी न था । पर आगे चलकर इसमें बहुत से प्रक्षिप्त अंश जुट गए । बालकाड और उत्तरकांड निस्सन्देह रूप से नये है । क्योंकि उनकी शैली रामायण की मुख्य कथावस्तु की शैली से मेल नही खाती । फिर उत्तरकाड में ही अवतारवाद और ब्राह्मणों के माहात्म्य का प्रतिपादन किया गया है । ईस्वी सन् की दूसरी शताब्दी तक, जिसमें रामायण का प्रक्षेपयुक्त स्वरूप मिलता है, रामकथा हो चुकी थी । ग्रंथों में राम अवतार मान लिये गये थे । संस्कृत के धार्मिक ग्रंथों में इसके प्रमाण मिलते हैं । 'हरिवंश' में जो चौथी शताब्दी के अन्तकाल की रचना है तथा बाद के ग्रंथों, जैसे विष्णु पुराण, वायु पुराण, भागवत पुराण, ब्राह्मण पुराण, गरुड़ पुराण, स्कन्द पुराण,

इत्यादि में रामकथा का विवरण मिलता है और इसमें राम को अलौकिक अवतार के रूप में स्वीकार किया गया है।

आगे चलकर अवतारी राम की महिमा ऐसी बढी कि रामायणों की रचना का एक सिलसिला बँध गया। अध्यात्म रामायण, अद्भुत रामायण, आनन्द रामायण इत्यादि के नाम उल्लेखनीय है। रामचरित को लेकर धार्मिक ग्रंथो के अतिरिक्त संस्कृत में जिन विशुद्ध साहित्यिक काव्यों का निर्माण हुआ, उनमें कालिदास का 'रघुवंश' अपेक्षाकृत प्राचीन है। इसके बाद की रचनाओं में 'भट्टि काव्य,' 'जानकीहरण,' 'रामायण मंजरी', 'उदार राघव' इत्यादि है और बाद की कुछ अप्रकाशित रचनाएँ भी उपलब्ध है। नाटकों में भासकृत 'प्रतिमा', भवभूति के 'उत्तर रामचरित' और 'महावीर चरित', राजशेखर कृत 'बाल रामायण' जयदेवकृत 'प्रसन्न राघव' प्रसिद्ध है। कथासाहित्य मे रामवृत्त कम है। सोमदेव कृत 'कथासरित-सागर' मे इसका उल्लेख कई स्थलों पर मिलता है।

संस्कृत-काल के पश्चात् प्राय· सभी मध्यकालीन तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में रामायण की रचना हुई। तमिल मे कंबन ने, कन्नड में नरहरि ने, मराठी मे एकनाथ ने, उडिया में बलरामदास ने और हिन्दी में गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' लिखा। गुजरात, असम और बंगाल कृष्ण-प्रधान प्रान्त रहे है, अत· इन प्रान्तों में अपेक्षाकृत रामकाव्य की रचना कम हुई। फिर, भी इनमें वाल्मीकिकृत रामायण का अनुवाद और रामकथा सम्बन्धी अनेक रचनाएँ हुई है। बंगला की कृत्तिवासकृत 'रामायण' और असमी की दुर्गावर कृत 'गीतिरामायण' तो काफी प्रसिद्ध है।

हिन्दी-साहित्य में तुलसीदास के रामचरितमानस का स्थान सर्वोपरि है। हिन्दी के मुसलमान कवि अब्दुर्रहीम खानखाना ने ठीक ही कहा था कि—

रामचरितमानस बिमल सन्तन जीवन प्रान।
हिन्दुवान को बेदसम जमनहिं प्रगट कुरान॥

'ह्वाट इज क्लासिक' नामक पुस्तक में टी० एस० इलियट ने लिखा है कि तुलसी का 'रामचरितमानस' हिन्दी का क्लासिक है। जिस रचना में भाषा, मस्तिष्क और समाज-भावना की व्यापक परिपक्वता होगी, वह क्लासिक कही जायगी।

हम रामायण को 'क्लासिक' इसलिए भी कहते है कि भाषा और भाव के जिस क्षेत्र में इस प्रकार के क्लासिक की रचना हो जाती है, वह क्षेत्र बहुत दिन तक बजर हो जाता है और बहुत दिनो तक उसमें साहित्य की फसल नही उगती, जैसे उसका सारा रस निचुड़ गया हो। रामचरितमानस में भी मानो भाषा और भाव का सारा रस निचुड़ आया और इस प्रकार कि आज तक

रामकाव्य के क्षेत्र में दूसरी कोई रचना उसकी बराबरी नही कर सकी ।

वैसे तुलसीदास के समकालीन सूरदास जी ने भी 'सूरसागर' में रामचरित लिखा और कुछ अन्य समसामयिक जनों ने भी, पर वह समग्रता नही आई । रामकाव्य के साथ अमर सम्बन्ध जोड़नेवाले गोस्वामीजी ही हुए । केशवदास की 'रामचन्द्रिका' मे केवल चमत्कारवाद है, वह अनुभूति नही, जो चमत्कारों को काव्यात्मक बना देती है । यही नही, इसमें तो प्रबन्ध-योजना भी त्रुटि-पूर्ण है ।

आधुनिक युग का सर्वश्रेष्ठ रामकाव्य मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' है । साकेत की रचना पर रामकाव्य सम्बन्धी अनेक पूर्ववर्ती ग्रन्थों का प्रभाव है । इसमें कवि ने तुलसी से कथा ली, वाल्मीकि से चरित्र लिए, कालिदास से प्रकृतिचित्रण की प्रेरणा ली, भवभूति से वस्तु-निर्माण की योजना ली, माइकेल मधुसूदन दत्त के 'मेघनाद वध' से पाप-पुण्य का संघर्ष लिया और नवीनचन्द्र सेन से नामकरण की शैली ली है ।

साकेत रामचरितमानस के अयोध्याकाण्ड पर विशेष रूप से आधारित है, इसलिए इस पर तुलसीदास का प्रभाव सर्वाधिक है । साकेत के अयोध्या-वर्णन और मंथरा-कैकेयी-सम्वाद मे रामायण की अनेक पंक्तियाँ प्रतिध्वनित हुई है, जैसे—

तीर-तीर देवन के मन्दिर (तुलसी)
तीर पर हैं देव मन्दिर सोहते (गुप्त)

× × ×

जनु प्रेम अरु अनुराग तनु धरि मिलत हम देखत हरि (तुलसी)

प्रीति से आवेग मानो आ मिला,
और हार्दिक हास आँखों में खिला । (गुप्त)

वस्तुयोजना के अतिरिक्त अवतारवाद का विशिष्टाद्वैती सिद्धान्त भी साकेत ने मानस से ग्रहण किया है—

निर्गुण ब्रह्म सगुण भये कैसे ।
जल हिम-उपल बिलग नहिं जैसे । (तुलसी)

हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है । (गुप्त)

कालिदास के रघुवंश की तरह गुप्त जी के 'साकेत' में इक्ष्वाकु-कुल के मंगलमय संवत्सरों के निर्देशक यज्ञ-स्तम्भ खड़े हैं । 'रघुवंश' की मंदाकिनी की अनुरूपता

में 'साकेत' की गंगा भी द्रवित मोतियो का हार बनकर पृथ्वी के गले मे पड़ी है। कालिदास की तरह साकेतकार को भी तीर्थराज प्रयाग को देखकर शरद् ऋतु का ध्यान हो आता है।

पात्रों का आवेश और गगावतरण वाल्मीकि का ध्यान कराते है। पर, यदि 'साकेत' अनुकरण मात्र है तो फिर उसका महत्त्व क्या ? कला का मूल उत्स आनन्द है और अंधानुकरण मे अपेक्षित आनन्द नही होता। यह निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि तुलसी के राम-केवट सवाद मे केवट के 'प्रेम लपेटे अटपटे' वचन में जो हृदयोल्लास है, आनन्दविभोर मन की जो भक्तिविह्वल उमंग है, मति फेर जानेवाली गिरा की प्रेरणा से बोझिल मथरा की कटूक्तियो मे भी नारी-जीवन के कठोर पक्ष का जो प्रमाणपूर्ण मार्मिक उद्घाटन है, जो मर्मस्पर्शी व्यग्य है, वह गुप्त जी के 'साकेत' में नहीं है। अपने व्यंग्य को स्वभावोक्ति से परम आस्वादनीय बना देनेवाली 'मानस' की मथरा 'साकेत' मे अधीर हो उठी है।

'साकेत' की उद्भावनाएँ मुख्यत पात्र-वस्तु-आदर्श-विषयक है। पूर्व कथाओ में हमने उर्मिला को विदेह-नगरी के स्वयंवर में वधूवेष में देखा था। रघुकुलराज के अन्तःपुर में प्रवेश करने के बाद उसके दर्शन नही हुए। भवभूति के काव्य में एक बार सीता ने चित्रशाला मे उर्मिला की छवि पर तर्जनी रखकर लक्ष्मण से पूछा था—'वत्स, यह कौन है', फिर रामकथा की विस्तृत चित्रशाला में किसी की तर्जनी उर्मिला की छवि पर न पड़ी। इस उपेक्षिता उर्मिला को मैथिलीशरण जी ने अपने महाकाव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित किया है। वह सीता से भी अधिक सम्मान और संवेदना का अधिकार रखती है, क्योंकि—'सीता ने अपना भाग लिया, पर उसने वह भी त्याग दिया'।

वनगमन के बाद दशरथ, माताएँ, गुरु वशिष्ठ आदि सभी उर्मिला का ध्यान रखते हैं। कवि राम को चित्रकूट पहुँचाकर उर्मिला के पास लौट आता है और अत तक उसके साथ रहता है। इस भाँति साकेतकार ने रामकथा के आकर्षण-केन्द्र को ही स्थानान्तरित करने की चेष्टा की है।

वाल्मीकि के काव्य के आकर्षण-केन्द्र नरचन्द्र राम है, तुलसी के मानस के भगवान राम और भवभूति की करुणा की आत्मा सीता है। गुप्त जी की चिन्ता की काव्यश्री उर्मिला है। वाल्मीकि के लक्ष्मण स्त्री के वशवर्ती राजा को बाँधकर और भरत को माता-समेत मारकर राम का राज्याभिषेक करना चाहते हैं, पर इससे उनका निजत्व प्रकट नहीं होता। तुलसी के लक्ष्मण तो शेषावतार ही थे जिसके भार-भंजन के लिए रामावतार हुआ था। स्वभावतः वे एक

कठोर आदर्शवादी सेवक के रूप में चित्रित किये गये है। गुप्त जी ने पहली बार लक्ष्मण को हृदयपक्ष से युक्त किया है। 'साकेत' के लक्ष्मण शौर्यवादी ही नही, सौन्दर्यवादी भी है। मानस की कल्पना विराट् है, साकेत की कोमल।

कैकेयी गुप्त जी की भावुक कल्पना की सबसे ऊँची चोटी है। कैकेयी साकेत-धाम का आकाशदीप है। दूर भविष्य मे जब साकेत के अनेक अंश दूर से दिखाई न देगे, यह ज्योति नवागंतुको को साकेत-दर्शन की प्रेरणा देती रहेगी। साकेत-कार ने उसकी महत्त्वाकाक्षा को विराट् वात्सल्य और उत्कट मातृत्व का पर्याय बनाकर, उसके संस्कारजन्य दर्प को परिस्थिति परक बनाकर तथा उसके अस्पृश्य पाप को वंदनीय पश्चात्ताप देकर कैकेयी को एक व्यक्ति बना दिया है, जिसके कलंक को तुलसीदास अध्यात्म की ओट देकर भी न छिपा सके, उसे गाँधीयुग के एक उदार वैष्णव ने ममत्व और ग्लानि के सयोग से कला के कपोल का सौन्दर्य-चिह्न बना दिया है। आदिकवि की कैकेयी विद्वानों की राय मे सीताहरण और सीता-परित्याग की तरह भाग्य-बहेलिये के तीखे तीरों का प्रतीक-भर है। मानस की कैकेयी देवताओ का उपादान और सरस्वती का शापमय वाहन है। उसमे व्यापार का अभाव है। 'साकेत' मे उर्मिला और कैकेयी दोनो वेदनामयी है, पर दोनों की वेदना में अन्तर है। उर्मिला की वेदना तरल तो है, पर वह निष्क्रिय है। कैकेयी के अनुताप में वह सक्रियता है, जो भूले-भटकों और निराश जनो को बल देती है—

'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।'

गुप्त जी ने रावण मे सहृदयता खोज ली है और सुमित्रा को क्षात्र-तेज दिया है— 'हम परभाग नही लेगी, अपना त्याग नही देगी।' साकेतकार ने मानस के निषादराज का मध्यकालीन हीन-परिज्ञान दूर किया है।

इस प्रकार कवि ने रामकाव्य की कठिन रागिनी को कोमल सुर में गाया है। यह उसका गौरव है, यही उसकी धन्यता है। जैसे एकतान सगीत में विविध वाद्ययंत्र बजते हैं और उनमें से प्रत्येक अपने चरम सुर का प्रकाश करता हुआ भी समग्र संगीत को रूप देने के लिए उसके ऐक्य में लय हो जाता है और श्रोता को उसकी पृथक् सत्ता का बोध नही होता, उसी प्रकार 'साकेत' में रामकाव्य की विभिन्न विचित्रताओं में से प्रत्येक ने अपना चरम कर्त्तव्य करते हुए भी ऐक्य की रागिनी में अपने को विसर्जित कर दिया है।

'साकेत' में भक्ति, युगानुगामिता और काव्य-चेतना का समाहार न हो सका। उसमें अनेक विवादी सुर सुनाई पड़ते हैं। उर्मिला 'साकेत' का केन्द्र बिन्दु तो बनी, पर भक्ति ने रामकाव्य का सम्पूर्ण अपवर्ग उतारकर मानों

उसके स्वत्वों का अपहरण किया है। 'साकेत' में कथा की दो अन्तर्धाराओं (राम-सीता की कथा और लक्ष्मण-उर्मिला की कथा) के प्रवहमान होने के कारण दो आकर्षण-केन्द्र उपस्थित हो गये है और पाठक की उत्कंठा एवं संवेदना का केन्द्रीयकरण उर्मिला में नही हो पाता। इस केन्द्रीयकरण के प्रयास मे कथा का एक वृहत् भाग वर्णन-प्रधान हो गया है और घटनाएँ परोक्ष बनकर शिथिल हो गई है।

'साकेत' मे जो एक विवादी स्वर सुनाई पड़ता है। वह है आर्य-महीपति दशरथ का दौर्बल्य। जिस लोकमत की रक्षा के लिए साकेतकार ने मानस के विधाता की भाँति प्रजा को सोती छोड़कर आधी रात को भाग जाने वाले राम का अनुसरण न कर तमसा के तीर पर एक सर्वथा भिन्न दृश्य खड़ा किया, उस आदर्श और लोकमत का एक अच्छा अवसर वरयाचना के समय, दशरथ के जीवन में आने पर भी कवि ने उसका कोई उपयोग नही किया। आदि कवि से लेकर गुप्तजी के काव्य तक मे अयोध्या-नरेश रामकथा के एक मोहग्रस्त कोने में खड़े रहे। दशरथ का यह असंशोधित दैन्य और अनुताप 'साकेत' के उदात्त स्वर के प्रतिकूल पड़ जाता है।

भावुकता-बहुल करुणा ने उर्मिला को भी आवश्यकता से अधिक संवेदना देकर किंचित् दयनीय बना दिया है। वियोग के दीर्घ वर्णन के कारण उसका वह कर्तृत्वपक्ष ही दुर्बल हो गया है, जिस पर चढ़कर वह साकेत का नेतृत्व करती।

गुप्त जी ने रामकथा में उर्मिला-विरह, भरत-माडवी-संलाप, साकेत की रणसज्जा, लक्ष्मण-उर्मिला मिलन आदि अनेक नये रसस्थल जोड़े है, पर इन भावनापूर्ण स्थलों के साथ ही 'साकेत' में कुछ रसाभास-स्थल भी जुड आये है। मरणासन्न दशरथ की दुर्बल आशा का उल्लासपूर्ण वर्णन, दशरथ की मृत्यु पर विधवा रानियों से अधिक उर्मिला का विलाप और साकेत की रणसज्जा के अवसर पर उसका साकेतवासियो को लका से सोना न लाने की चेतावनी देना—ऐसा ही प्रसंग है। इस प्रकार 'साकेत' में महाकाव्य का-सा भावोन्मेष तो मिलता है, पर भाव-संकलन नही।

कालिदास के प्रकृति-चित्रण की सहज कला गुप्त जी के अकृश-बोझिल, व्याख्या-संकुल और श्लेषलोलुप वाक्यों में कहाँ? वाल्मीकि की यथार्थता ने लक्ष्मण द्वारा की गई विमाता कैकेयी की भर्त्सना में, कैकेयी की छाती में अंकित शत्रुघ्न के मुष्टिका-प्रहार मे नीतिहीन असत् वस्तुवाद का रूप धारण कर लिया है। अतः इन ग्रंथों की तुलना की तुला मे तौलकर हम 'साकेत' की मर्यादा

का मूल्याकन नहीं कर सकते। यह 'साकेत' की अनुकरण-वृत्ति नही, उसकी मौलिकता थी, उसका नवीन पथ-निर्देश था, जिसने उसे समादृत किया और उसके अनुकरण में 'साकेत-संत' 'कैकेयी' आदि प्रबन्ध लिखवाये। अतः साकेत के गौरव के मूल्याकन की कसौटी वे उद्भावनाएँ है, जिनमें मैथिलीशरण जी ने दीन, मूक पात्रो को महाप्राण बनाया है, उपेक्षित जीवन-प्रान्तर में नये मर्मस्थल बसाये और पूर्व जीवनादर्शो का मूल्यांकन किया है। 'साकेत' न तो रामकथा की अनुकृति है, न विरोध, वह उसका पुनर्मूल्यांकन है, उसके सूत्रो की आधुनिक व्याख्या है।

साकेत : युग का एक प्रतिनिधि महाकाव्य

विचारणा की अतिशय उदात्त पट-भूमि पर महाकाव्य की संरचना होती है। युग-विशेष में जब अभ्यन्तर विचार-संकर्षण उत्पन्न होता है, युग-मानस के महोदधि में परस्पर विरोधमूलक वैचारिक दर्शन-जन्य अन्तर्मन्थन घटित होता है, तब ऐसी स्वयंभू कविर्मनीषा की अवतारणा होती है जो महाकाव्य का सृजन करती है। महाकाव्य-प्रणेता कवि के मानस का युग-मानस से तादात्म्य हो जाता है, फलत: महाकवि की वाणी से युग-विशेष की प्रबुद्ध चेतना भैरवी गान बनकर फूट पडती है। इसका अवश्यम्भावी परिणाम यह होता है कि महाकाव्य युग-प्रतिनिधि काव्य बनकर जन-जन का कठहार हो जाता है।

महाकाव्य की रचना मनुष्य को विकल करने वाली अनेक भाव-धाराओ के बीच सामंजस्य लाने का प्रयास है, परस्पर विरोधी प्रश्नों के समाधान की चेष्टा है, जब जीवन में नवीन विचारों का मन्थन होने लगता है। पुरानी व्यवस्था चरमराती है और उसके पीछे से नया क्षितिज उभरता है तो जीवन को एक नये साँचे में ढालने, उसे नयी मर्यादा और व्यवस्था देने के लिए महाकाव्यों का सृजन होता है। महाकाव्य मनुष्यता की प्रगति के मार्ग में मील के पत्थरों के समान होते है, वे व्यंजित करते है कि मनुष्य किस युग में कहाँ तक प्रगति कर सका है।

भक्तिकाल के कुछ पूर्व मुसलमानों के आगमन के कारण भारतीय समाज-व्यवस्था में एक ऐसे ही विक्षोभ की लहर आयी थी, जिसके परिणामस्वरूप 'पद्मावत', 'रामचरितमानस' आदि महाकाव्यों की रचना की आवश्यकता पडी। अंग्रेजों के भारतागमन और नयी वैज्ञानिक सभ्यता के प्रवेश के बाद फिर एक ऐसी ही अस्तव्यस्तता और मूल्यहीनता की घड़ी आयी। 'साकेत', 'प्रियप्रवास', 'कामायनी' तथा 'उर्वशी' के सृजन के पीछे यही सांस्कृतिक द्वन्द्व और व्यक्ति-मानस का असंगठन वर्त्तमान है।

'साकेत' रामकथा का काव्य है और रामकथा भारतीय साहित्य के दो सर्वस्वो में से एक है, क्योंकि 'रामायण' और महाभारत' ये ही दो महाकाव्य है जो अत्यन्त प्राचीनकाल से सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के उपजीव्य रहे हैं। किन्तु

रामकथा की अनुभूति प्रत्येक युग और समाज मे बदलती आयी है। यही कारण है कि रामायण के, विभिन्न भाषाओं मे, इतने प्रकार मिलते है। यदि केवल संस्कृत और हिन्दी-साहित्य को ही ले, तब भी भवभूति के राम वे ही नही है जो वाल्मीकि के राम थे तथा तुलसी के राम वाल्मीकि और भवभूति, दोनों के रामो से ईषत् भिन्न है। उदाहरणार्थ शूद्र तपस्वी शम्बूक का वध करते समय वाल्मीकि के राम के हृदय में कोई पीड़ा नही हुई, कोई द्विविधा नही जगी; किन्तु भवभूति के राम जब शम्बूक का वध करने को उद्यत होते हैं, तब शम्बूक पर उनका हाथ नही उठता और वे अपने आपको धिक्कारने लगते है। यह और कुछ नही, वाल्मीकि और भवभूति के युगो की मान्यताओं का भेद है जो एक राम को कठोर और दूसरे को कोमल करके दिखाता है। आज हमें यह मानने में कठिनाई होती हैं कि जो कर्म द्विजो के लिए धर्म है, वह शूद्रों के लिए पाप कैसे बन सकता है ?

तुलसीदास का उद्देश्य राम को देवता बनाकर लोगो के सामने लाना था। इसलिए, उन्होने शम्बूक-वध और सीता-परित्याग का प्रसंग ही नही उठाया। यदि ये दो प्रसंग उन्होंने लिखे होते तो सभव था कि वे भी भवभूति के समान करुणा से विचलित हो जाते और तब तुलसी के राम इतनी आसानी से जनता को ग्राह्य होते या नहीं; यह कहना कठिन था।

पिछली शताब्दी से अपने देश के विचारों पर विज्ञान, बुद्धिवाद और प्रजातान्त्रिक भावनाओं का जो प्रभाव पडा है, उससे हमारी संस्कृति में आमूल परिवर्तन घटित होने लगे है और इसके फलस्वरूप अपने इतिहास और पुराणों को देखने की हमारी दृष्टि में बहुत बड़ा परिवर्तन आ गया है। वर्त्तमान सदैव अतीत पर नया प्रकाश फेंकता रहता है और अतीत का जीवित अंश बराबर वर्त्तमान के साथ रहता है। परिवर्तन के इसी क्रम में रामकथा-विषयक हमारी अनुभूति में जो परिवर्तन आया, वह सभी 'साकेत' में व्यक्त हुआ है।

प्राचीन कथानक पर रचित होने पर भी 'साकेत' आधुनिक काव्य है। उसके राम और लक्ष्मण त्रेताकालीन होते हुए भी हमारे युग में पूर्णतः खप जाते हैं। 'साकेत' में ऐसी अनेक पंक्तियाँ हैं जो त्रेता-युग के प्रसंग में लिखी जाने पर भी हमारे अपने समय की समस्याओं पर चोट करती हैं। 'साकेत' की रामकथा परंपरा के अनुसार चलती है। पात्रों के चरित्र में नवयुग की झाँकी दिखाने के लिए कवि ने घटनाओं में हेर-फेर नही किया है। 'साकेत' में रामकथा से नवयुग की शिक्षा घटनाओं को मोड़कर नहीं, वरन् उनकी नवीन व्याख्याएँ करके निकाली गयी हैं। व्याख्या-क्रम में कवि को बराबर इस बात का ध्यान रहा है कि वह

व्याख्या त्रेताकाल के समाज के लिए बिलकुल अकल्पनीय न हो जाय ।

'साकेत' के राम हैं तो वही पात्र जिनके दर्शन हमें वाल्मीकीय अथवा तुलसी-कृत रामायण में होते हैं । किन्तु परिवर्तन के भावो से प्रभावित कवि ने उन्हे सर्वथा भिन्न दृष्टि से देखा है । पंडित नन्ददुलारे बाजपेयी ने लिखा है कि ' तुलसीकृत रामायण में, राम के रूप में ईश्वर की मानवता का चित्रण हुआ है, किन्तु 'साकेत' में राम के बहाने मानव की ईश्वरता चित्रित की गयी है ।" तुलसीदास ने जैसे राम को अपना परमाराध्य एव लोक-परलोक का नियंता मान-कर 'रामचरितमानस' की रचना की, मैथिलीशरण जी का हृदय उससे भिन्न मार्ग लेने वाला नही था । किन्तु बुद्धिवादी युग ने उनकी कृति को अपने प्रभुत्व में ले लिया और यद्यपि, कवि की सुदृढ आस्था ने राम के ईश्वरत्व में संदेह करने वाले युग को बडे जोर से ललकारा—

राम, तुम मानव हो ? ईश्वर नही हो क्या ?
विश्व में रमे हुए नही सभी कहीं हो क्या ?
तब मैं निरीश्वर हूँ, ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे ।

किन्तु राम का रूप उन्होंने वैसा ही अंकित किया, जैसा युग चाहता था । अपने हृदय के मूल में राम को परब्रह्म का अवतार मानते हुए भी बुद्धिवादी युग के इस परम आस्तिक कवि ने 'साकेत' में उन्हें अवतार के रूप में कम, युग-पुरुष के रूप में अधिक चित्रित किया है । परिवर्तन के क्रम में भारत ने जो यह मान्यता पकड़ी कि प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी मात्रा में ईश्वर का अवतार है, अतएव अवतार और युग-पुरुष के बीच बहुत कुछ समता होती है, यह मान्यता भी राम के व्यक्तित्व के पीछे काम करती है—

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया,
जन-सम्मुख धन को तुच्छ जताने आया ।
सुख-शान्ति हेतु मै क्रान्ति मचाने आया,
विश्वासी का विश्वास बचाने आया ।
मै आया उनके हेतु कि जो तापित है,
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन, शापित है ।
भव में नववैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया ।
संदेश यहाँ मै नही स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया ।

यह उद्धरण मैथिलीशरण जी की अवतारवाद-विषयक मान्यताओ की कुजी के समान है। राम स्वयं परब्रह्म हैं, इस बात मे उनका विश्वास उतना ही अचल है, जितना गोस्वामी तुलसीदास जी का था। किन्तु, अवतारो के कर्त्तव्य क्या होते हैं, इस विषय मे गुप्त जी नवयुग की विचारधारा से प्रेरणा लेते हैं। मनु-शतरूपा को दिये गये वरदान की पूर्त्ति अथवा रावण का वध, रामावतार के लिए अब इतने ही कारण यथेष्ट नही माने जा सकते। 'परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्टकृताम्'—ये कारण भी अब मद्धिम पड़ गये हैं। अवतारों की उपयोगिता अब धर्मसंस्थापन को लेकर ही कुछ समझी जा सकती है। धर्म भी बिल्कुल वही नही है जो दो या चार हजार वर्ष पहले कहा गया था। सभी वस्तुओ के समान धर्म भी परिवर्तनशील है और प्रत्येक युग में प्रसंगानुकूल उससे नये-नये अर्थ प्रकट होते रहते है। प्राचीन और मध्यकालीन युगों मे लोक हीन तथा परलोक श्रेष्ठ माना जाता था। स्वयं तुलसीदास जी ने लिखा था 'गो-गोचर जहँ लगि मन जाई, सो सब माया जानहु भाई।' किन्तु नये युग की मान्यता इससे सर्वथा भिन्न है। भारत में प्रवृत्तिमार्गी दर्शन का जो उत्थान हुआ है, उससे प्रेरित होकर अब हम लोक को सत्य तथा अत्यन्त श्रेष्ठ मानने लगे हैं और जो लोग परलोक की सत्ता में विश्वास करते हैं, उनकी भी मान्यता अब यह है कि परलोकसुधार का भी एकमात्र साधन इस लोक की ही सेवा तथा सुधार है।

आज का सच्चा धर्म वह नही है जो कर्मठ नवयुवकों को गेरुआ पहनाकर उन्हें समाज की कर्मधारा से विच्छिन्न करता है, परन्तु वह जो संन्यासियो से भी यह कहता है कि अरण्यवास को छोडकर जन-समाज के भीतर जाकर मनुष्यों की सेवा किये बिना तुम्हें शान्ति नही मिलेगी। भगवान का अवतार अब साधुओं और ब्राह्मणो की रक्षा के लिए नही, प्रत्युत 'विवश, विकल, बलहीन, दीन' लोगों के उद्धार के निमित्त होना चाहिए। इसी प्रकार, अवतारों के नाम-स्मरण की अपेक्षा उनके गुण, कर्म और स्वभाव का अनुकरण कही अधिक फलदायी है।

भारत में देश-भक्ति की धारा भी परिवर्तन के साथ अथवा ठीक उसकी पीठ पर आयी थी। अतएव 'साकेत' के राम, प्रकारान्तर से, देशभक्ति को भी प्रेरणा देते हैं—

> अथवा आकर्षण पुण्य भूमि का ऐसा
> अवतरित हुआ मैं आप उच्च फल-जैसा।

यहाँ, स्पष्ट ही, पुण्यभूमि से तात्पर्य भारतवर्ष से है और 'आकर्षण' शब्द यह ध्वनित करता है कि भारतवर्ष इतना पवित्र देश है कि देवता भी यहाँ जन्म पाने को तरसते रहते हैं।

सबसे विचित्र बात यह है कि 'साकेत' के राम स्वामी दयानन्द के मतों से प्रभावित दीखते है। साकेत से पूर्व रामकथा-विषयक किसी भी साहित्य मे यह नही कहा गया था कि राम के लंकाभियान का एक उद्देश्य दक्षिण भारत में आर्य-सभ्यता का प्रचार करना था। परिवर्तन के पूर्व यह बात कही भी कैसे जा जा सकती थी ? परिवर्तन से पूर्व भारत मे इतिहास-विषयक अज्ञान का अन्धकार छाया हुआ था। किन्तु उस अन्धकार की अच्छाई भी थी। इतिहास की अनभिज्ञता के कारण हम यह नही जानते थे कि इस देश में आर्य और आर्येतर नामक दो जातियो के लोग निवास करते है तथा इस देश की सभ्यता में जो भी ऊँचे और अच्छे उपकरण है, वे आर्यो के लाये हुए है एवं उसके सारे अधम पक्ष आर्येतर जातियो की देन है। उन्नीसवी सदी मे वेदो का जो महत्त्व बढा तथा भारत के अतीत मे जो चमक आयी, उससे सभी लोग यह मानने लगे थे कि आर्य श्रेष्ठ एवं अनार्य हीन है। परिणाम यह हुआ कि सारे देश मे वेदों की उत्तमता और आर्य-संस्कृति को अप्रतिमता की धूम मच गयी तथा स्वामी दयानन्द ने तो इस वैचारिक आन्दोलन को और भी शक्तिशाली बना दिया। 'साकेत' के राम इस आन्दोलन से पूर्ण रूप से प्रभावित दीखते है। 'साकेत' के राम वैदिक धर्म तथा आर्यत्व के प्रचारक है, यह बात काव्य मे कई स्थलो पर पर दीख पड़ती है—

> बहु जन वन में है बने ऋक्ष-वानर से,
> मै दूँगा अब आर्यत्व उन्हे निज कर से।
> उच्चारित होती चले वेद की वाणी,
> गूँजे गिरि-कानन-सिन्धु-पार कल्याणी।
> अम्बर मे पावन-होम-धूम घहरावे,
> वसुधा का हरा दुकूल भरा लहरावे।
> मुनियो को दक्षिण देश आज दुर्गम है,
> बर्बर कौणपगण वहाँ उग्र यम-सम है।

× × × (अष्टम सर्ग)

> जय-जयकार किया मुनियो ने, दस्युराज यो ध्वस्त हुआ,
> आर्य-सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य-धर्म आश्वस्त हुआ।

× × × (एकादश सर्ग)

> किसका कुल है आर्य बना अपने कार्यों से ?
> पढ़ा न किसने पाठ अवनितल में आर्यों से ?

(द्वादश सर्ग)

राष्ट्रीयता भारतवर्ष मे परिवर्तन की कुक्षि से उत्पन्न हुई। यहाँ पहले राम-मोहन, केशवचन्द्र, दयानन्द, विवेकानन्द और एनी बेसेंट हुईं, तब अरविन्द, तिलक, गोखले और गाँधी का आगमन हुआ। यही कारण है कि भारतीय राष्ट्रीयता के सर्वोच्च पुरुष महात्मा गाँधी राजनीति से अधिक संस्कृति के नेता दिखायी देते हैं। 'साकेत' के भीतर भारत की राष्ट्रीयता एवं स्वाधीनता-संग्राम, दोनों की पद-चाप स्पष्ट सुनायी देती है। ननिहाल से वापस आने पर शत्रुघ्न जब क्रोध से काँपते हुए कहते है—

वह प्रलोभन हो किसी के हेतु,
तो उचित है क्रान्ति का ही केतु।
दूर हो ममता, विषमता, मोह,
आज मेरा धर्म राजद्रोह।

तब पहले पद से तो भारतीय क्रान्ति का औचित्य एवं उसकी आवश्यकता ध्वनित होती है तथा दूसरे पद में उस नारे की ध्वनि सुनायी पडती है; जिसका उद्देश्य लोगों के हृदय पर यह विश्वास जमाना था कि पराधीन देश में राजद्रोह पाप नही, पुण्य का कर्म होता है।

इसी प्रकार जब राम वन जा रहे है तब बहुत-से अयोध्यावासी यह कहकर उनके आगे लेट जाते है कि—

राजा हम ने राम! तुम्ही को है चुना,
करो न तुम यों हाय! लोकमत अनसुना।
जाओ, यदि जा सको रौद हमको यहाँ,
यों कह पथ में लेट गये बहुजन वहाँ।

यह और कुछ नही; सविनय-अवज्ञा की प्रतिध्वनि है। स्वयं राम ने भी इसे 'विनत विद्रोह' ही कहा है—

उठो, प्रजाजन, उठो, तजो यह मोह तुम,
करते हो किस हेतु विनत विद्रोह तुम?

और द्वादश सर्ग में उर्मिला जब अयोध्या की उद्वेलित सेना को संबोधन करती हुई यह कहती है कि—

पावें तुमसे आज शत्रु भी ऐसी शिक्षा,
जिसका अथ हो दण्ड और इति दया-तितिक्षा।

तब इस उपदेश को हम शुद्ध अहिंसा का उपदेश भले न मानें किन्तु, उसके भीतर अहिंसा का स्पर्श अवश्य हो।

'साकेत' राम-काव्य की परम्परा का एक मूल्यवान् ग्रन्थ है। डॉ० नगेन्द्र के शब्दो में "साकेत का रामकाव्य में स्थान निर्धारित करने के लिए उसको पहले तुलसी-काव्य के साथ देखना चाहिए। तुलसी भक्त थे, साधक थे, अतः उनका मानस धार्मिक भक्ति-काव्य है। पर 'साकेत' जीवन-काव्य है। इसमें जीवन में धर्म को ढूंढ निकालने की चेष्टा है। साकेतकार के धार्मिक सिद्धान्तों के निर्माण में इस युग की बौद्धिकता का पूर्ण समावेश है। हमारी सबसे बड़ी समस्या जीवन है और उससे परे अध्यात्म या धर्म, इस युग में कोई अर्थ नही रखता। इसमें मुक्ति और भुक्ति का सामंजस्य है। भक्ति आकर 'साकेत' मे भावुक बन गई है। यह समय का तकाजा है।"

मैथिलीशरण जी के 'साकेत' में युगधर्म अपनी प्रत्यक्षता नहीं खोता क्योकि इसमें जीवन की व्याख्या युगानुकूल हुई है। सचमुच 'साकेत' युग का एक प्रतिनिधि महाकाव्य है।

साकेत--परिवेश और युगबोध

राष्ट्रकवि श्री मैथिलीशरण गुप्त को लगभग साठ वर्षों की काव्य-साधना का श्रेय प्राप्त है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की छत्र-छाया में अपनी काव्य-रचना को आरम्भ कर वह द्विवेदी-युग के प्रतिनिधि कवि बने और छायावाद, प्रयोगवाद, प्रगतिवाद आदि काव्यान्दोलनो के साथ अपने कवि-कर्म के प्रति जागरूक रहे। गाँधीवादी मनश्चेतना और मध्यवर्ग की सास्कृतिक गतिशीलता का जैसा चित्र उनके काव्य में उभरता है वैसा किसी अन्य समसामयिक कवि की रचना में नही। वैष्णव विचारधारा और सनातन भारतीय संस्कृति को उन्होने युग के अनुकूल नये अर्थ दिये है और उनके काव्य मे मानव-जीवन की सार्थकता उच्चतम सदर्भो और श्रेष्ठतम राष्ट्रीय एव जातीय प्रतीको के माध्यम से व्याख्यायित हुई है।

यदि भारतेन्दु नवयुग की भारती की वीणा का निर्माण कर गये, हरिऔध ने उसपर मन्द्र-मध्य सप्तको के तार बाँधे तो मैथिलीशरण गुप्त पहले कृती कवि है, जिन्होंने उससे सुरीली झंकार निकाली। मैथिलीशरण गुप्त आधुनिक हिन्दी साहित्य की ऐसी विरल विभूति है, जिन्होंने एक युग तक समस्त देश का साहित्यिक नेतृत्व किया है और जिनकी रचनाओं में सारा भारत बोल उठा है। खड़ीबोली-कविता के विकास का इतिहास बहुत दूर तक अकेले गुप्त जी के कृतित्व का इतिहास है। किसी भाषा और साहित्य के इतिहास में ऐसे कवि कम आया करते हैं जो लगभग आधी शताब्दी तक सम्पूर्ण जाति की भावनाओं का व्यापक प्रतिनिधित्व कर सके। गुप्त जी निस्सन्देह हिन्दी के एक ऐसे ही समर्थ कवि हैं। गुप्त जी का विशाल वाङ्मय उनकी असाधारण सर्जनात्मक शक्ति और सतत जागरूकता एवं क्रियाशीलता का प्रकृष्ट प्रमाण है।

प्रत्यक्ष जीवन की हलचलों को कविता में अनूदित कर देना कठिन नही होता। पर उनसे रसमय सम्बन्ध जोड़ पाना और अपनी प्रतिक्रियाओं की काव्यात्मक अभिव्यक्ति अवश्य कठिन होती है। किसी नवीन विचार को संस्कार बनने में समय लगता है और जब तक विचार संस्कार नही बन जाते, तब तक कविता में उनकी रसात्मक व्यंजना सभव नही है। अपने सभी सहयोगियो में युग

की काव्यात्मक प्रतिष्ठा का सर्वाधिक श्रेय मैथिलीशरण गुप्त को ही प्राप्त है।

एक प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि काव्य का विचार से क्या सम्बन्ध है ? क्या वह केवल अनुभूतिपरक वस्तु नही है ? व्यक्तिगत भावस्पन्दन को रसानुभूति का साधन बनाकर कवि जीवन के माधुर्य और तेज के प्रति हमे जागरूक बनाता है। परन्तु ये भावस्पन्दन क्या नितान्त व्यक्तिगत होते है ? क्या उनमें युग की समस्याओं, युग-जीवन की प्रेरणाओ तथा सामाजिक और राष्ट्रीय हलचलो का प्रतिबिम्ब भी नही उभरता ? कवि का शाश्वत रसबोध क्या अपने भीतर युगबोध को भी नही समेट लेता ? प्रश्न मर्यादावादी अथवा स्वच्छन्दतावादी काव्य का नही है, काव्य के मूल संवेदन और कवि के व्यक्तित्व की सजीवता तथा युग के प्रति उसकी ईमानदारी का प्रश्न है। श्रेष्ठ कवि अपने प्रति उत्तरदायी होने के साथ युग के प्रति भी उत्तरदायी होते है। सफल कवि तो युग के प्रति उत्तरदायी होकर ही अपने प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करते है। 'काव्य के लिए काव्य' और 'कला के लिए कला' वाला सिद्धान्त उन्हे विचलित नही करता, क्योकि काव्य और कला को जीवन-सापेक्ष तथा जीवन के प्रति उत्तरदायी मानकर वे युग के लिए प्रकाशस्तंभ बन जाते है। जैसे स्पंज पानी को अपने भीतर सोख लेता है, उसी तरह सवेदनशील कवि युग की प्रवृत्तियो को आत्मसात् कर, उन्हे अपनी संवेदना का अभिन्न और गंभीरतम अंश बनाकर काव्योत्कृष्टता का निर्वाह करता है। फलत. विचारोत्कृष्टता ही उसकी काव्योत्कृष्टता का मूलाधार बन जाती है।

गुप्त जी के काव्य का उचित मूल्याकन उसी समय हो सकेगा जब हम उनके काव्य को युग से जोड़ें और उसके सामाजिक, सांस्कृतिक और राष्ट्रीय महत्त्व को निरन्तर अपने सामने रखें। छायावाद, प्रयोगवाद और नयी कविता के आन्दोलनों ने काव्य को सामाजिक, सास्कृतिक और राष्ट्रीय सन्दर्भो से अलग कर उसे कवि के व्यक्तित्व तक सीमित कर दिया है। पिछले तीस वर्षो का हमारा काव्यालोचन वादीय भूमिकाओं से ग्रस्त है। वह व्यक्तिमुखी और अन्तर्धर्मी बन गया है। उसमें व्यक्ति की क्षुद्रताएँ ही उभरी है, जीवन के परिष्करण एवं उदात्तीकरण की कोई चेतना उसमें नही है। गुप्त जी के काव्य के विपक्षी आलोचक इसलिए असंतुष्ट है क्योंकि उन्होने उसे भारतीय काव्य-परम्परा और नवजागरण-मूलक जीवन-चेतना के भीतर से नही देखा है। यूरोपीय वादों की चकाचौध ने उन्हे दिग्भ्रमित कर दिया है।

'साकेत' में भारतीय संस्कृति के प्राचीन आदर्शो और वर्तमान युग की नवीन विचारधाराओं के बीच सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। साकेतकार

भारत के अतीत गौरव और प्राचीन संस्कृति के परम उपासक हैं और साकेत की कथावस्तु का सम्बन्ध भी भारत की प्राचीन संस्कृति से है। इसलिए साकेत में प्राचीन आदर्शों का प्राचीन युगानुरूप चित्रण स्वाभाविक है। परन्तु अतीत के संदेशवाहक होते हुए भी गुप्त जी अपने युग की भावनाओं तथा विचारधाराओं के प्रति जागरूक दिखाई देते हैं। साकेत में वे अपने युग तथा उसके प्रति अपने दायित्व को भूल नहीं सके हैं। साकेत प्राचीन युग की देन अवश्य है, पर साथ ही उसमें आधुनिक युग की नूतन भावनाएँ भी स्थान-स्थान पर मुखरित हो उठी हैं।

'साकेत' में प्राचीन कथानक से सम्बन्ध रखने वाली अलौकिक और अति-मानवीय घटनाओं को साकेतकार ने वर्तमान युग की परिवर्तित रुचि के अनुसार लौकिक तथा स्वाभाविक बनाने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। 'रामचरित-मानस' में दशरथ से राम के वनवास और भरत के राज्याभिषेक के लिए वर-याचना में कैकेयी की बुद्धि सरस्वती से प्रभावित दिखायी गयी है—

नाम मन्थरा मंदमति, चेरी कैकइ केरि।
अजस पिटारी ताहि करि, गई गिरा मति फेरि॥

(अयोध्याकाड, दो० १२)

आधुनिक युग कैकेयी के मति-परिवर्तन में किसी दिव्य शक्ति का हाथ स्वीकार करने को तैयार नहीं। इसलिए गुप्त जी ने 'भरत से सुत पर भी सन्देह' इन शब्दों की योजना करके इस प्रसंग में अलौकिकता के स्थान पर मनोवैज्ञानिकता की सृष्टि की है। इसी प्रकार मेघनाद की शक्ति से मूर्च्छित लक्ष्मण को जीवित करने के लिए मानस में हनुमान संजीवनी बूटी के लिए हिमालय में पहुँचते हैं किन्तु साकेत में हनुमान को यह बूटी भरत से ही मिल जाती है। यह बूटी भरत को किसी साधु से मिली थी। इस प्रसंग में भी अलौकिक घटना को लौकिक रूप देने का प्रयत्न किया गया है। आज के युग की परिवर्तित रुचि के अनुसार अलौकिक घटनाओं को लौकिक बनाने का प्रयत्न करते हुए भी गुप्त जी परंपरा-गत रामकथा को सर्वथा आधुनिक रूप नहीं दे सके। देवलोक निवासी देवताओं का आविर्भाव बीसवीं शताब्दी के साकेत के नभोमंडल में कई बार हुआ है। राम, लक्ष्मण और सीता को विदा करके सुमंत्र के अयोध्या लौटने पर लोगों के यह पूछने पर—'क्या फिरे हमारे आर्य नहीं ?' आकाश से देवगण भी बोल उठते हैं—

क्या फिरे हमारे आर्य नहीं ?
सुर बोले—'था सुरकार्य वहीं। (सर्ग ६)

दशरथ की मृत्यु पर साकेत निवासियों के साथ-साथ देवागनाएँ भी रोती है—

ऊपर सुरागनाएँ रोई,
भू पर पुरागनाएँ रोई। (सर्ग ६)

चित्रकूट की सभा के निर्णय की प्रतीक्षा देवगण टकटकी लगाए नेत्रों से करते है—

टकटकी लगाए नयन सुरों के थे वे,
परिणामोत्सुक उन भयातुरों के थे वे। (सर्ग ८)

आज का वैज्ञानिक युग राम को ईश्वर के अवतार के रूप मे नही, एक महापुरुष के रूप में ही अपना सकता है। साकेतकार राम के ईश्वरत्व को सर्वथा मिटा तो नही सके है, परन्तु युग की रुचि के अनुसार उन्होने राम के चरित्र मे मनुष्यत्व को प्रधानता अवश्य दी है। राम को उन्होने मुख्यतया एक आदर्श महापुरुष के रूप मे ही उपस्थित किया है। राम के चरित्र मे नवयुग की भावनाओ और प्राचीन आदर्शो का सामजस्य इन शब्दो मे व्यक्त किया गया है—

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नही हो क्या ?

आधुनिक युग नारी जाति के उत्थान का युग है। साकेत के स्त्री-पात्रों के चरित्र में स्थान-स्थान पर आधुनिक नारी का अपने अधिकारो के प्रति जागरूक हृदय बोलता है। कैकेयी के पाँवों में पडकर राम की भिक्षा माँगने के लिए उत्सुक कौशल्या के प्रति सुमित्रा को इन उक्तियो मे आधुनिक नारी जाति का स्वर गूंज उठता है—

स्वत्वों की भिचा कैसी ? दूर रहे इच्छा ऐसी।

× × ×

प्राप्य याचना वर्जित है; आप भुजों से अर्जित है।
हम पर-भाग नहीं लेंगी, अपना त्याग नहीं देंगी।
वीर न अपना देते हैं, न वे और का लेते हैं।
वीरों की जननी हम है, भिक्षा मृत्यु हमें सम है।
(सर्ग ४)

मेघनाद की शक्ति से लक्ष्मण के मूर्च्छित होने का समाचार पाकर साकेत निवासी लंका पर चढ़ाई के लिए तैयार हो जाते है। इसी अवसर पर उर्मिला, कैकेयी, सुमित्रा और माण्डवी की दर्पभरी उक्तियाँ वर्तमान नारी-समाज की जाग्रति और गरिमा की ओर सकेत करती है। कैकेयी एक वीर नारी के रूप में युद्ध के लिए तैयार हो जाती है—

मैं निज पति के संग गई थी असुर-समर मे,
जाऊँगी अब पुत्रसंग भी अरि-संगर में।
(सर्ग १२)

साकेत मे युग-युग से उपेक्षिता उर्मिला और कलंकिता कैकेयी के चरित्र को गौरवान्वित करके कवि ने वर्तमान युग की नारी-भावनाओ के अनुकूल नारी-जाति के उत्थान में सहयोग दिया है।

आज का युग दीन-दुखियों और पीडितो का युग है। प्रजातंत्र शासन वर्तमान युग की पुकार है। प्रजातत्र सम्बन्धी राजनैतिक विचारधाराओ की अभिव्यक्ति भी साकेत मे यत्र-तत्र हुई है। वस्तुत साकेतकार ने भारतीय संस्कृति के अनुरूप प्राचीन राजतंत्र और आधुनिक प्रजातंत्र मे समन्वय-सा उपस्थित किया है। उन्होने प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार राजतत्र की रक्षा करते हुए राजा का अस्तित्व स्वीकार किया है किन्तु राजा मे त्याग और लोकसेवा की भावना को प्रधानता दिखाकर उसे आधुनिक युग की भावनाओं के अनुकूल लोकप्रिय बना दिया है। लक्ष्मण के इन शब्दो मे राजतंत्र और प्रजातत्र सम्बन्धी विचारों का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है—

भला वे कौन हैं जो राज्य लेवे ?
पिता भी कौन है जो राज्य देवे ?
प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा,
मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा। (सर्ग ३)

शत्रुघ्न के इन शब्दो में भी वर्तमान युग का ही स्वर गूँज रहा है—

राज्य को यदि हम बना ले भोग,
तो बनेगा वह प्रजा का रोग।
× × ×
विगत हों नरपति, रहे नरमात्र।
और जो इस कार्य के हों पात्र,
वे रहे उस पर समान नियुक्त
सब जियें ज्यों एक ही कुल भुक्त। (सर्ग ७)

साकेत पर गाँधीवाद का भी गहरा प्रभाव दिखायी देता है। वर्तमान युग की विचारधाराओ का प्रतिनिधित्व करते हुए गुप्त जी ने साकेत में गाँधीवाद के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विचारों को अपनाया है। महात्मा गाँधी के स्वप्नों के रामराज्य से साकेतकार भी सहमत है। भरत के इन शब्दों में साकेतकार महात्मा गाँधी की तरह विश्व के विद्रोह को शान्त करने की क्षमता रखने वाले

रामराज्य की प्रशंसा करते है—

अनुज, उस राजत्व का हो अन्त,
हन्त! किस पर कैकेयी के दन्त।
किन्तु राजे राम-राज्य नितान्त—
विश्व के विद्रोह करके शान्त। (सर्ग ७)

गाँधी जी की तरह गुप्त जी ने सन्तोषमय, सरल, ग्राम्यजीवन का स्वागत किया है। सीता के इन शब्दो में गाँधी जी के अभीष्ट ग्रामीण जीवन की अभिव्यक्ति हुई है—

औरो के हाथों यहाँ नही पलती हूँ,
अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
श्रमवारि-बिन्दुफल स्वास्थ्य-शुक्ति फलती हूँ,
अपने अचल से व्यजन आप झलती हूँ।
तनु-लता-सफलता-स्वाद आज ही आया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया। (सर्ग ८)

गाँधी जी के आदर्शो के अनुरूप ही सीता भोली-भाली कोल-भिल्ल-बालाओं का स्वागत करती है। यहाँ सीता के कातने-बुनने में भी गाँधी जी के चरखे का स्वर सुनाई देता है—

तुम अर्द्धनग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ, हम कातें-बुनें गान की लय में। (सर्ग ८)

गुप्त जी को गाँधी जी की तरह भारतीय ग्राम्य-जीवन बहुत प्रिय है। गुप्त जी ने उर्मिला के इन शब्दों में आदर्श ग्राम्य-जीवन का चित्र उपस्थित किया है—

हम राज्य लिये मरते है,
सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्षक ही करते है।
जिनके खेतो में है अन्न,
कौन अधिक उनसे सम्पन्न ?
पत्नी-सहित विचरते है वे,
भव-वैभव भरते है।
हम राज्य लिए मरते है। (सर्ग ६)

साकेत में वर्तमान युग के राष्ट्रीय विचारों और देशभक्ति को भी समुचित स्थान मिला है। आधुनिक राष्ट्रीय विचारो के अनुसार साकेतकार भी राष्ट्र की

उन्नति के लिए एक सुसंगठित राज्य की सत्ता आवश्यक समझते हैं । भिन्न-भिन्न कई राज्यों की स्थापना से राष्ट्र की शक्ति क्षीण हो जाती है—

एक राज्य न हो बहुत से हों जहाँ,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहाँ । (सर्ग १)

मातृभूमि के प्रति गुप्त जी का अगाध प्रेम भी साकेत में यत्र-तत्र व्यक्त हुआ है । अयोध्या से वन के लिए विदा होते समय राम जन्मभूमि के प्रति अपना प्रेम इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

जन्मभूमि, ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव, गर्व तथा निज मान दे । (सर्ग ५)

आज का युग विज्ञान का युग है । आधुनिक युग की वैज्ञानिक विचार-धाराओं का भी साकेत पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार पृथ्वी स्थिर है और सूर्य उसके चारों ओर घूमता है । पर उसके विरुद्ध आज के वैज्ञानिकों के अनुसार पृथ्वी ही सूर्य का चक्कर काटती है और एक वर्ष में यह चक्कर पूरा होता है । साकेत की उर्मिला की यह उक्ति इसी वैज्ञानिक तथ्य को लिए हुए है—

चौदह चक्कर खायगी जब यह भूमि अभग,
घूमेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के संग । (सर्ग ६)

'साकेत' मैथिलीशरण गुप्त जी की केन्द्रीय रचना है । इसमें उन्होंने राम-कथा को मानव-चरित्र की जिस सूक्ष्मता और नवीनता से देखा है वह उनके हृदय की कोमलता, भावनामयता और परिष्कृति की सूचक है । यह परिष्कृति उनके काव्य का प्राण है । प्रेमचन्द की भाँति गुप्त जी भी जीवन-परिष्कार के साधक कलाकार हैं और उन्होंने जीवन-सापेक्ष कला और काव्य का अत्यंत पुष्ट और समर्थ रूप हमें दिया है । वैष्णव धर्म की देवतावादी और भक्तिवादी चेतना को उन्होंने नयी मानवतावादी चेतना की ओर मोड़ा और नये राष्ट्रवाद को भारतवर्ष की आध्यात्मिक संस्कृति से सम्पन्न किया । वैष्णव संस्कारों को राष्ट्रीय जीवन और स्वदेश-प्रेम में ढालकर उन्होंने हमारे राष्ट्रीय काव्य के नैतिक और सांस्कृतिक स्तर को बहुत ऊँचा उठा दिया । देवता को मनुष्य के धरातल पर लाकर और मनुष्य के भीतर छिपे प्रच्छन्न देवत्व के प्रति हमें संवेदित कर वह जीवन की मंगलमयता तथा दैवीयता की प्रतिष्ठा करते हैं । इतिहास और पुराण में युगचेतना का आरोप कर उन्होंने परम्परा को नये अर्थ दिये हैं और नूतनता को प्रयोग की भूमिका से उठाकर उसे सनातन मूल्यों का संबल प्रदान किया है । युग की सांस्कृतिक और साहित्यिक चेतना का एक साथ

नेतृत्व करने वाले गुप्त जी का आस्तिक व्यक्तित्व और सरल सात्विक जीवन युगों तक प्रेरणा का विषय बना रहेगा।

प्रबन्ध काव्य की श्रेष्ठता केवल चरित्र-चित्रण की नूतनता से नही मापी जाती। उसके पीछे एक नयी जीवन दृष्टि का होना भी नितान्त आवश्यक है। प्रबन्धकार कवि दरअसल इतिहास अथवा पुराण के आवरण में अपने ही युग का व्याख्याता होता है। 'साकेत' में गुप्त जी का युगबोध स्पृहणीय है।

रामचरितमानस और साकेत की तुलना

गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में राम-कथा का वर्णन किया है। मैथिलीशरण गुप्त जी के 'साकेत' में भी राम-कथा ही वर्णित है। 'साकेत' की कथा यदि कही 'रामचरितमानस' से मिलती-जुलती है तो कही भिन्न है और कही नितान्त मौलिक भी। शास्त्रीय सिद्धान्तों में एकता हो सकती है, चरित्र-चित्रण, आदर्श की व्याख्या आदि में भी समानता हो सकती है, फिर भी दोनो में सूक्ष्म अन्तर है। 'रामचरितमानस' और 'साकेत' की तुलना के क्रम में मुख्य रूप से चार बातो पर ध्यान देना अपेक्षित है। ये है—

(१) युग-सापेक्षता
(२) समता
(३) विषमता
(४) मौलिकता

(१) युग-सापेक्षता—डब्ल्यू० बी० वर्सफील्ड का कथन है—"आलोचक का मुख्य उद्देश्य कवि की विशेष परिस्थितियों, सामाजिक और भौतिक वातावरण तथा कवि की व्यक्तिगत पहुँच को समझाना है और यह दिखाना है कि इन नियामक दशाओं ने उसके काव्य के स्वरूप को कहाँ तक प्रभावित किया है।" (Judgment in literature, Page 74)

उक्त कथन पूर्णतया सत्य है क्योकि प्रत्येक रचना पर उस युग की अमिट छाप रहती है। उस युग की परिस्थितियों के प्रकाश में ही उसे भलीभाँति समझा जा सकता है। युग के अनुसार साहित्यिक कृतियों में भी परिवर्तन दिखाई पड़ता है। 'रामचरितमानस" और 'साकेत' दो विभिन्न युगों की रचनाएँ है जो अलग-अलग अपने युगों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अतः हमें इन कृतियों को प्रभावित करने वाली विचारधाराओं के प्रकाश में यह समझना होगा कि उन्होंने इनके स्वरूप में कहाँ तक परिवर्तन किया, क्योकि प्रत्येक साहित्यिक कृति पर व्यक्तिगत और अव्यक्तिगत दोनों प्रकार की शक्तियाँ प्रभाव डालती है। डब्ल्यू० एच० हडसन ने ठीक ही लिखा है—

"As behind every book that is written lies the personality

of the man who wrote it, and as behind every national literature, lies the character of the race which produced it, so behind the literature of any period lies the combined forces—personal and impersonal—which, made the life of the period, as a whole what it was."

(An Introduction of the Study of Literature, Page 47)

(क) **राजनीतिक परिस्थिति**—तुलसीदास ने जिस युग में पदार्पण किया उसमे घोर चिन्ता और अशाति व्याप्त थी। यत्र-तत्र बाह्य आक्रमणों से जनता त्रस्त और भयभीत थी। अकबर ने यद्यपि शक्तिशाली विशाल साम्राज्य की स्थापना की थी तथापि साधारण जनता को कोई सुख नही था। अकबर का शासन केन्द्रीकृत सैनिक एकतत्र था। राज्य की ओर से बाह्य रक्षा का प्रबन्ध था किन्तु लोग स्वयं अपनी रक्षा के लिए उत्तरदायी थे। राजधानी में विलासिता के साधन एकत्रित थे और शाही खानदान रंगरेलियो में मस्त रहता था। यद्यपि अकबर ने काफी उदारता से काम लिया तथापि जनता की अवस्था में कोई सुधार न हुआ। राजा मनमाने ढग से कठोर दंड देता था। उसमें धर्म और न्याय का लेशमात्र भी विचार नही था। इसीलिए तुलसी ने लिखा है—

नृप पाप परायन धर्म नही,
करि दंड विडंब प्रजा नित ही।

ब्राह्मणों और वेदों की उपेक्षा की जाती थी और अनुशासन का नितान्त अभाव था। तुलसी ने इस प्रकार की राजनैतिक व्यवस्था की घोर निन्दा की। उन्होंने राजाओं को चेतावनी दी—

जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी,
सो नृप अवस नरक अधिकारी।

मैथिलीशरण गुप्त की आगमन-वेला में भारतीय निरीह प्रजा परतंत्रता की बेड़ी में जकड़ी स्वतत्रता के लिए कसमसा रही थी। सन् १८५७ के पश्चात् एक मूक शांति भारतवर्ष के मैदान में छा गई थी। अंग्रेजी शासन ने अपने पंजे और दृढ़ कर लिये थे। अंग्रेजी शासन की क्रूरता और अत्याचारों की कहानी दुहराने की आवश्यकता नहीं। इन दिनों मानवीय विकास की सुविधाओं का पूर्ण अभाव था। सन् १८८५ में स्थापित कांग्रेस संस्था ने भारतीयों के जमे हुए रक्त में फिर से एक नई लहर उत्पन्न करने की कोशिश की। धीरे-धीरे राष्ट्रीय-भावना बलवती होने से साहित्य में भी इसकी पुकार सुनाई पड़ने लगी।

भारतेन्दु के पहले यह आवाज दबी हुई थी सर्वप्रथम भारतेन्दु को ही यह कहने का साहस हुआ—

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी ॥

राष्ट्रीयता की खुलेआम दुंदुभि 'भारत भारती' के द्वारा गुप्त जी ने फूंकी। 'साकेत' में उन्होंने भारतीय नवयुवकों को इन शब्दों से ललकारा—

है अपनों को छोड़ मुक्ति भी अपनी कारा,
पर अपनो के लिए नरक भी स्वर्ग हमारा।
पैर धरें इस पुण्य भूमि पर पामर पापी,
कुललक्ष्मी का हरण करें वे सहज सुरापी।
भर लो उनका रुधिर करो अपनो का तर्पण,
मास जटायु-समान जनों को कर दो अर्पण।

भारतीयों में विदेशी शासन के प्रति घृणा और अपने देश के प्रति अनुराग की भावना बढती गई। 'साकेत' के राम इसी लोक-भावना को व्यक्त करते हुए दिखाए गए—

मैं हूँ तेरा सुमन चढ़ूँ सरसूँ कहीं,
मैं हूँ तेरा जलद, बढ़ूँ बरसूँ कहीं।
शुचि रुचि शिल्पादर्श शरद-घनपुंज तू,
कला कलित अति ललित कल्पना कुंज तू।

सन् १६१७ में पूज्य महात्मा गाँधी ने भारतीय राजनीति में पदार्पण किया और तब से भारतीय राजनीति गांधी का पर्याय बन गयी। गाँधी जी ने राजनीति में आध्यात्मिकता का रंग चढ़ाया। उन्होंने धर्म और राजनीति को एक ही लक्ष्य-प्राप्ति के साधनों के रूप में समन्वित करने का प्रयास किया। गाँधी जी का राज्य धर्मराज्य ही था। साकेतकार ने गाँधीवाद की इस कल्पना को शब्दों का आकार दिया है। शासक को अधिकार की अपेक्षा त्याग औरा सेव के गुणों से विभूषित किया है—

राज्य में दायित्व का ही भार,
सब प्रजा का वह व्यवस्थागार।

× × ×

राज्य सुख है बलि पुरुष का भोग,
मूल्य जिसका प्राण का विनियोग।

आधुनिक युग प्रजातंत्र का युग है। यद्यपि साकेतकार राजतंत्र का समर्थक है

तथापि वह युग की प्रजातंत्र भावना की उपेक्षा नही कर सका—

राजा हमने राम तुम्ही को है चुना।
करो न तुम यों हाय ! लोकमत अनसुना।

आधुनिक युग की समानता और सह अस्तित्व की पुकार भी साकेतकार ने सुनी है—

केवल उनके ही लिए नही यह धरणी,
है औरों की भी भारधारिणी भरणी।

(ख) **धार्मिक परिस्थिति**—तुलसी के समय में अनेक प्रकार के पंथ चल रहे थे। ये सभी पंथ एक दूसरे की बुराई करके अपनी महत्ता प्रतिपादित करने के लिए दंभोक्तियों का सहारा लेते थे। गोरखपंथी, सूफी, कबीरपंथी, अघोरी आदि योगी-यतियो की काफी धूम थी। ये लोग अपने कौतूहलजनक कार्यों द्वारा जनता पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते थे। लोग वैदिक भक्ति भूलकर मिथ्याचारो में जकड़ गये थे—

श्रुतिसंमत हरि भगति पथ, संयुत विरति विवेक।
ते चालहि नर मोहबस, कल्पहिं पंथ अनेक॥

तुलसी ने मिथ्याडम्बरो, भूत-प्रेत पूजाओं आदि का बहिष्कार करके हृदय की निर्मलता पर जोर दिया। 'रामचरितमानस' में शुद्ध हृदय से की गई रामभक्ति का ही प्रतिपादन किया गया है—

मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई।
भजत कृपा करिहहि रघुराई॥

तुलसी ने अपने युग में प्रचलित शैव और वैष्णव संप्रदायों में ऐक्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि उन्होंने रामभक्ति को ही श्रेष्ठ माना किन्तु इसके लिए शिव की आराधना का महत्त्व भी माना—

'संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।'

एकमात्र रामभक्ति का प्रतिपादन करके उन्होने धार्मिक भेदों को मिटाने का प्रयत्न किया। उनकी दृष्टि में रामभक्ति के बिना मनुष्य पशु के समान है—

रामचन्द्र के भजन बिनु जो पद चह निर्बान।
ग्यानवंत अपि सो नर पसु बिन पूंछ विषान॥

तुलसी भेदपरक बुद्धि के समर्थक न होकर अभेदपरक भक्ति भाव के समर्थक थे। इसके साथ ही उन्होने परिष्कृत सामान्य धर्म का भी प्रतिपादन किया जिसे

प्रत्येक व्यक्ति मान सकता है। उदाहरणार्थ—

धरम न दूसर सत्य समाना।

× × ×

नहिं असत्य सम पातक पुजा।

× × ×

परहित सरिस धर्म नहि भाई।

भारतवर्ष धर्मप्राण माना जाता रहा है, किन्तु अंग्रेजी शासन में धर्म में भी बुराइयाँ आ गई है। मूढतावश बाह्याडम्बरों को ही धर्म समझा जाने लगा और धार्मिक उपदेश व्यावहारिक जीवन से दूर केवल बातचीत की सीमा में ही रह गये। मंदिरो और तीर्थों के महन्तो और पंडितों ने धर्म को व्यवसाय के रूप में ग्रहण कर लिया। इसके अतिरिक्त शासकों की ओर से ईसाइयत के प्रचार का प्रयत्न किया जाने लगा। शासकों की नीति भारत में धार्मिक भेदभाव उत्पन्न करके अपना स्वार्थ सिद्ध करने की थी। ऐसी स्थिति में भारतीय धर्म को गहरी चोट पहुँचना निश्चित ही था। 'साकेत' में भारत के पवित्र आर्य धर्म की प्रतिष्ठापना करने की चेष्टा की गई है। 'साकेत' के राम धर्म संस्थापनार्थ ही जन्म लेते है—

मै आर्यों का आदर्श बताने आया।

× × ×

उच्चारित होती चले वेद की वाणी।

गूंजे गिरि कानन सिन्धु पार कल्याणी।।

'साकेत' में धर्म के विकृत रूप जैसे पशुबलि आदि की निन्दा की गई है। आधुनिक युग में धर्म के प्रति आग्रह कम होता जा रहा है। धर्म को एक व्यक्तिगत विषय समझा जाने लगा है। धर्म-विशेषो में पड़ने की अपेक्षा अब सामान्य विश्वधर्म की भावना बलवती हो रही है। इसी कारण गुप्त जी में धर्म-सहिष्णुता और उदारता मिलती है। गुप्त जी विरोधी मतावलम्बियों के प्रति भी उदार हैं।

(ग) **आर्थिक परिस्थिति**—तुलसी के समय में जनता की आर्थिक दशा भी ठीक नहीं थी। शासक वर्ग द्वारा कृषकों पर घोर अत्याचार किया जाता था। चारों ओर बेकारी फैल रही थी। अधिकांश भागों में बीमारी और अकाल से जनता त्राहि-त्राहि कर रही थी। अन्न के बिना सैकड़ों व्यक्ति मर जाते थे —

कलि बारहिं बार दुकाल परै।

बिनु अन्न दुखी सब लोग मरै।

ऐसी स्थिति में शिक्षा और साहित्य भी अपने लक्ष्य से पतित हो गये थे। शिक्षा जीविकोपार्जन का साधन बन गई थी—

मातु पिता बालकन्ह बोलावहिं।
उदर भरइ सोई पाठ पढावहिं॥

कविता दरबारी छत्रछाया में पल कर काम-केलि में कुठित हो गई थी। कवियो की स्थिति यह थी—

कवि वृन्द उदार दुनी न सुनी।
गुन दूषक बात न कोपि गुनी॥

'साकेत' निर्माण के समय भारत विदेशी शासन के अधीन था। फलत. भारतीयो के आर्थिक हित सुरक्षित नही थे। विदेशी शासक अपने अधिकारों का उपयोग अपने आर्थिक लाभ के लिए करते थे। भारत का धन धीरे-धीरे विदेश जा रहा था और भारत कंगाल बनता जा रहा था। उद्योगों का विकास न होने और पुराने धन्धों के चौपट होने के कारण भूमि पर जनसंख्या का भार बढ़ता जा रहा था। कृषि के विकास की ओर भी ध्यान नही दिया जा रहा था। पशु-सम्पत्ति का सहार हो रहा था।

साकेतकार ने विदेशी शासन के अन्तर्गत आर्थिक सत्यानाश की प्रतिक्रिया के रूप में भारतीय भौतिक समृद्धि का चित्र खीचा है। आत्मनिर्भरता उन्नति के लिए आवश्यक है। शासकों में प्रजा की भलाई की सच्ची भावना होनी चाहिए। 'साकेत' के राम इसी सेवा और त्याग की भावना से प्रेरित है—

मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश, विकल, बलहीन, दीन शापित हैं।

आज की आर्थिक व्यवस्था तुलसीकालीन आर्थिक व्यवस्था से सर्वथा भिन्न है। औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप गहरी विषमताएँ उत्पन्न हो गई है। वितरण की उचित व्यवस्था के अभाव में अर्थशक्ति चन्द व्यक्तियों में केन्द्रित हो गई है। इस शक्ति का उपयोग अपने स्वार्थ में करने के कारण सर्वहारा जनता जीवन की सुविधाओं से वंचित रह जाती है। यह निश्चय ही अनिष्ट की जड़ है। गुप्त जी ने भी इस ओर संकेत किया है—

हाँ, तब अनर्थ के बीज अर्थ बोता है,
जब एक वर्ग में मुष्टिबद्ध होता है।

संग्रह करके त्याग न करना ही शोषण है। गुप्त जी लिखते है—

जो संग्रह करके त्याग नही करता है,
वह दस्यु लोकधन लूट-लूट धरता है।

(घ) **सामाजिक परिस्थिति**—तुलसी के तत्कालीन समाज में भोग-लालसा इतनी प्रबल हो गई थी कि पुरुष स्त्रियो के संकेत पर नाचते थे—

नारि बिबस नर सकल गोसाईं।
नाचहिं नर मरकट की नाईं॥

लोगो को काम-वृत्ति ने इतना अंधा कर दिया था कि वे बहिन और पुत्री का पवित्र नाता भी भूल जाते थे—

कलिकाल बिहाल किए मनुजा।
नहिं मानत कोउ अनुजा तनुजा॥

इस सामाजिक बुराई को भला गोस्वामी जी कैसे सहन कर सकते थे ? उन्होंने नारी के कामिनी रूप की घोर निन्दा की और पुरुषो को चेतावनी दी—

दीपसिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग।
भजहु राम तजि काम मद करहु सदा सतसंग॥

तुलसी के युग में वर्णव्यवस्था भी विशृंखल हो गयी थी। लोगो में आचार-विचार का लोप हो गया था। सभी वर्ण अपने अभीष्ट उद्देश्य से गिर गये थे—

बरन धरम नहिं आश्रम चारी।
श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥

ब्राह्मणो ने धर्म का उपयोग अपने व्यवसाय हेतु करना आरम्भ कर दिया था—

द्विज श्रुति वंचक-भूप प्रजासन।
कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥

सामाजिक अनुशासन के लिए यह आवश्यक था कि सभी वर्ण अपने कर्त्तव्यों का उचित रूप से पालन करें। इसी कारण तुलसी ने वर्णव्यवस्था का समर्थन किया।

'साकेत'-रचनाकाल में भारतीय समाज में नारी भी एक समस्या थी। अधिकाश स्त्रियों के अशिक्षित होने के कारण उनमें आभूषणप्रियता, अंध-विश्वास, पर्दा आदि बुराइयाँ घर कर गईं। पुरुषों ने उन्हें भोग की वस्तु बनाकर छोड़ दिया था। स्त्रियो को इस अवस्था से मुक्ति दिलाने के प्रयास किए जाने लगे। गुप्त जी ने 'साकेत' में इस समस्या का समाधान किया है। उनकी

दृष्टि में नारी किसी भी प्रकार पुरुष से कम नही । 'साकेत' में उसकी यह स्थिति अधिकारों से नही बल्कि उसके त्याग और अनुराग के कारण है । वह पुरुष की पूरक बन कर आती है, उपभोग की सामग्री नही ?—

निश्चिन्त नारियाँ आत्मसमर्पण करके,
स्वीकृति में कृत्यकृत्य भाव हैं नर के ।

भारतीय वर्णव्यवस्था में भी समय के साथ दोष उत्पन्न हो गए । सभी जातियाँ अपने वास्तविक ध्येय से च्युत हो गईं । ब्राह्मण अज्ञानतावश ब्राह्याडम्बर को ही धर्म समझ कर वंशाभिमान में पागल हो गए । जातियो के बीच ऊँच-नीच की खाई बढ गई । गुप्त जी ने 'साकेत' में आदर्श वर्णव्यवस्था का रूप सामने रखा । उन्होंने स्पष्ट कहा—

द्विजता तक आततायिनी ।
वध में कब है दोषदायिनी ।।

'साकेत' में अन्य आधुनिक विचारों का भी प्रभाव परिलक्षित होता है । आज के समाज में वचन-विदग्धता और शिष्टाचार होना आवश्यक है । 'साकेत' के पात्र भी इन गुणों से विभूषित है । उर्मिला और लक्ष्मण की वचनचातुरी देखिए—

'धन्य जो इस योग्यता के पास हूँ,
किन्तु मै भी तो तुम्हारा दास हूँ ।'
'दास बनने का बहाना किसलिए,
क्या मुझे दासी कहाना इसलिए ?'

(२) **समता**—'मानस' और 'साकेत' की समता मूल राम-कथा को लेकर है । राज्याभिषेक होते-होते वनवास, चित्रकूट-प्रसंग, दण्डक यात्रा के क्रम में लंका पहुँचना, राक्षसों का संहार, रावण वध और चौदह वर्ष की समाप्ति पर राम का अयोध्या लौट आना । पात्रों के नाम भी वही है—दशरथ, राम, सीता, वशिष्ठ, सुमन्त आदि । भाई भी चार है, चारो का विवाह साथ-साथ हुआ है । घटनाएँ भी प्राय. एक-सी हैं । तुलसी के राम ईश्वर थे । उनका सिद्धान्त था—

अगुन, अरूप, अलख अज जोई ।
भगति प्रेम बस सगुन सो होई ।।

'जब जब होइ धरम की हानी' द्वारा तुलसी ने राम के लोकरक्षक, मर्यादा पुरुषोत्तम स्वरूप का वर्णन किया है । गुप्त जी भी राम का ब्रह्मत्व अक्षुण्ण

रखते हैं। निर्गुण सगुण इसलिए हो गया कि संसार का पथ-प्रदर्शन करना है—

हो गया निर्गुण सगुण साकार है,
ले लिया अखिलेश ने अवतार है।
किसलिए यह खेल प्रभु ने है किया ?
मनुज बनकर मानवी का पय पिया ?
भक्त-वत्सलता इसी का नाम है—
और वह लोकेश लीलाधाम है।

राम पिता की आज्ञा पालन करने के लिए वन जाते हैं। सीता, लक्ष्मण उन्ही का अनुसरण करते हैं, सुमंत सीमा पार कराते हैं, केवट से भेंट होती है। ग्रामीण स्त्रियाँ यहाँ भी सीता से पूछती हैं—ये गोरे-साँवरे कौन हैं ? तुलसी की सीता उत्तर देती है—

बहुरि वदन-विधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितै भौह कर बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नैननि।
निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सैननि॥

गुप्त जी की सीता भी इसी सरल भाव से कहती है—

'गोरे देवर, श्याम उन्ही के ज्येष्ठ हैं।'

इसी प्रकार चित्रकूटप्रसंग का उद्देश्य भी वही है जो तुलसी का था। भरत, माताएँ, नागरिक, मुनिगण सभी अपने-अपने तर्कों से उन्हें लौट चलने को कहते है लेकिन राम अपने निश्चय पर अटल हैं—

पर रघुकुल में जो बचन दिया जाता है
वह लौटा कर अब कहाँ लिया जाता है ?

और भरत को उनकी चरण-पादुका से ही सन्तोष करना पड़ता है—

बस मिले पादुका मुझे, उन्हे ले जाऊँ,
बस उनके बल पर, अवधि पार मैं पाऊँ।

लक्ष्मण-शक्ति का उल्लेख तुलसी ने भी किया था, गुप्त जी ने भी किया है। वैद्य यहाँ भी आकर सजीवनी बूटी का उल्लेख करते है जिसे लाने के लिए हनुमान को भेजा जाता है—

संजीवनी मात्र ही स्वामी, आ जावे यदि रातो रात।
तो भी बच सकते है लक्ष्मण, बन सकती है बिगड़ी बात॥

महाकाव्य की शास्त्रीय दृष्टि से तुलसी ने मंगलाचरण किया था—

वर्णानामर्थसंघाना रसाना छन्द सामपि
मगलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ।

गुप्त जी ने भी गणेश व सरस्वती की वन्दना की है। तुलसी ने जिस प्रकार—

कवि न होहुँ नहिं बचन प्रवीना,
सकल कला सब विद्या-हीना ।
कवित विवेक एक नहिं मोरे,
सत्य कहौं लिखि कागद कोरे ।

कहकर नम्रता प्रदर्शित की थी, उसी प्रकार गुप्त जी ने यह कह कर की है—

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है ।

गुप्त जी अपने कथानक के लिए वाल्मीकि तथा तुलसी दोनो के ऋणी है, परन्तु 'साकेत' पर 'मानस' का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक लगता है। स्वयं गुप्त जी ने 'साकेत' के छठे सर्ग मे तुलसी के प्रभाव की ओर इन शब्दों में संकेत किया है—

तुलसी यह दास कृतार्थ तभी—
मुँह में हो चाहे स्वर्ण न भी,
पर एक तुम्हारा पत्र रहे,
जो निज मानस-कवि-कथा कहे ।

(३) **विषमता**—इन स्थूल समानताओ की अपेक्षा तुलसी के वृत्त से गुप्त जी का सूक्ष्म अन्तर अधिक है—

(क) दोनो की प्रबन्ध-परपरा में अन्तर है। साकेत में बालकाड तो है ही नही। अष्टम सर्ग तक अयोध्याकांड की कथा हो चलती है। लंकाकाड तक घटनाएँ इसमें एकादश-द्वादश सर्गो में समेट दी गई है। उत्तरकाड की झाँकी सूक्ष्मतः कुछ पहले, कुछ बाद में दे दी गई है। 'मानस' में जो घटनाएँ प्रत्यक्ष हुई थीं, 'साकेत' में परोक्ष कर दी गई हैं। गुप्त जी ने उनका चलता वर्णन कर दिया है—

थोड़े में वृत्तान्त सुनो अब खर-दूषणसंहारी का ।

× × ×

गया जटायु इधर सुरपुर को,
उधर दशानन लंका को ।

× × ×

तब लंका पर हुई चढाई, सजी ऋक्ष-वानर सेना ।

(ख) पात्रों के चित्रण में भी एक दूसरे में विषमता है । 'मानस' की कैकेयी के लिए तुलसी ने 'गई गिरा मति फेरि' वाक्य का प्रयोग किया है, किन्तु 'साकेत' में कैकेयी का विरुद्ध हो जाना दैवात् नही है, मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया है । उस पर तो सन्देह हुआ ही, उसके पुत्र पर भी सन्देह किया गया । इसी कारण वह प्रतिरोध करती है । 'मानस' की मंथरा ने कहा—

कोउ नृप होहु हमहिं का हानी,
चेरि छाँड अब होब कि रानी ।

लेकिन 'साकेत' की मंथरा कहती है—

दण्ड दें कुछ भी आप समर्थ,
कहा क्या मैंने अपने अर्थ ?
समझ में आया जो कुछ मर्म,
उसे कहना था मेरा धर्म ।

'साकेत' की उर्मिला का चित्रण तो सर्वथा नवीन है । कौशल्या-सुमित्रा में भी भाव-परिवर्तन आ गया है । लक्ष्मण तो मात्र सेवा-भाव के अतिरिक्त 'मानस' के लक्ष्मण से बिल्कुल ही भिन्न हो गए है । वे राम के सामने भी तन जाते है—

उनको इस शर का लक्ष्य चुनूँगा क्षण में,
प्रतिषेध आपका भी न सुनूँगा रण में ।

'मानस' के जिस लक्ष्मण ने सीता-माता के चरणो के ऊपर कभी दृष्टि नही की थी, केवल पाँव के आभूषण ही पहचान सके थे, 'साकेत' में उसी ने सीता को यह उत्तर दिया है—

उठा पिता के भी विरुद्ध मै
किन्तु आर्य-भार्या हो तुम,
इससे तुम्हें क्षमा करता हूँ,
अबला हो, आर्या हो तुम ।

(ग) 'मानस' में तुलसी ने बार-बार घोषणा की है कि राम परब्रह्म हैं, अवतार है, मनुष्य नही है बल्कि मनुष्य-लीला कर रहे हैं । तुलसी ने सीता का शृंगार वर्णन बहुत ही कम किया है, लेकिन गुप्त जी ने खुलकर सौन्दर्य वर्णन किया है—

सुख से सद्य. स्नान किए, पीताम्बर परिधान किए
गोट जडाऊँ घूँघट की, बिजली जलदोपम पट की...
.. गोल-गोल गोरी बाँहे, दो आँखों को दो राहे ।

(घ) 'साकेत' पर वर्तमान युग की छाप है । राष्ट्रीयता, उच्च नारी-भावना आधुनिक प्रवृत्तियो के अनुकूल हो जो 'मानस' मे नही हो सकता था । तुलसी लिख गए थे—

ढोल गँवार शूद्र पशु नारी
ये सब ताडन के अधिकारी ।

लेकिन 'साकेत' की नारियाँ शिक्षित, सहयोगी, वीर क्षत्राणी के रूप मे चित्रित हुई है; वह चाहे उर्मिला हो, सुमित्रा हो या अयोध्या की नागरिका हो ।

(ङ) वस्तु-वर्णन मे भी 'मानस' के राम का उद्देश्य दक्षिण मे आर्य सभ्यता का प्रचार करना नही है । ऋक्ष-वानरों का वहाँ पशु-रूप ही लिया गया है जिसकी मनोहर झाँकी कभी-कभी आजकल रामलीला मे देखने को मिलती है । जब कि 'साकेत' के राम ने स्वयं अपना उद्देश्य प्रकट किया है—

'मै दूँगा अब आर्यत्व उन्हे निज कर से ।'

यहाँ वे जातियाँ ली गई है जो असभ्यता, असस्कृति, अशिक्षा, अज्ञान के कारण पशु-तुल्य जीवन बिताती थी । गुप्त जी ने लिखा है—

'बहु जन वन में है बने ऋक्ष वानर से ।'

इस प्रकार तुलसी ने जिन वर्णनो को उपेक्षित रखा था, गुप्त जी ने विस्तार पूर्वक अपनी कविकल्पना से उनमें रंग भरा है और जहाँ उनकी वर्णित कथा ली भी है, नवीन दृष्टिकोण से समझकर उसे स्थान दिया है ।

(४) **मौलिकता**—अब यह देखना है कि गुप्त जी ने 'साकेत' के वर्ण्य वृत्त में क्या मौलिक उद्भावनाएँ की है । तुलसी से जो भेद रखा गया, उनका वर्णन कवि की कल्पना शक्ति द्वारा ही संभव हुआ, प्रेरणा चाहे अन्य ग्रंथो से मिली हो । 'साकेत' की मौलिकता गुप्त जी को उद्भावनाओं का हो प्रतिफल है । ये नवीनताएँ क्रम-क्रम से नीचे प्रस्तुत की जा रही है—

(क) 'साकेत' का अर्थ है अयोध्या । सब घटनाएँ यहीं केन्द्रित है ।

(ख) 'साकेत' का कौटुम्बिक जीवन नवीन है अब तक की राम-कथाओं में राम अमानवीय थे । गुप्त जी वैष्णव होने के नाते उन्हे अवतारी मानते है, पर कुटुम्ब में उन्हे पूर्णरूप से प्रतिष्ठित किया है । स्वर्ग से तुलना करते हुए अयोध्या एवं सरयू को श्रेष्ठ कहा है—

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ,
किन्तु सुर सरिता कहाँ सरयू कहाँ ?
वह मरो को मात्र पार उतारती,
यह यही से जीवितो को तारती ।

(ग) उर्मिला से सम्बद्ध सभी वर्णन मौलिक है । विवाह के पश्चात् प्रथम सर्ग में दाम्पत्य जीवन की झलक नितान्त मौलिक है । उर्मिला का अरुण पट पहनकर प्रासाद में खड़ा होना, लक्ष्मण का आगमन, मधुर वार्ता, सब मौलिक है । सौन्दर्य-वर्णन भी नवीन है—

लोल कुण्डल मण्डलाकृति गोल है,
घन पटल से केश, कान्त कपोल है ।
देखती है जब जिधर यह सुन्दरी,
दमकती है दामिनी सी द्यु ति भरी ।

चतुर्थ सर्ग में उर्मिला आर्य नारी के रूप में चित्रित है, जिसे पति की आज्ञा शिरोधार्य करनी है । सेवाधर्म में बाधा पड़ेगी अतः उसने वियोग ही स्वीकार कर लिया—

आज स्वार्थ है त्याग भरा,
है अनुराग विराग भरा ।

दशरथ की मृत्यु पर वह कैकेयी के सामने जा गिरती है । यह प्रसंग साकेतिक अभिव्यक्ति करता है क्योकि कैकेयी के कारण ही उसे यह जीवन देखना पडा । अष्टम सर्ग में उसे कैकेयी ने छाती से लगा लिया है—

आ, मेरी सबसे अधिक दुःखिनी आ जा
पिस मुझ से चंदन लता मुझी पर छा जा !

उर्मिला का विरह-वर्णन भी गुप्त जी की नितान्त मौलिकता है ।

(घ) पात्रो में सुमित्रा का वीर क्षत्राणी रूप भी नवीन है । कौशल्या से उसका स्वभाव भिन्न है । जब पुत्र लक्ष्मण को इतना उग्र दिखाया गया तो माता में भी वीरत्व भावना दिखानी ही पड़ती । वनवास की आज्ञा पर वह चुप नही रहती, सिहनी के सदृश्य गरजती है—

स्वत्वों की भिक्षा कैसी,
दूर रहे इच्छा ऐसी ।

आर्य-परंपरा किसी अन्याय को सिर झुकाकर मानने का विरोध करती है । जो अपना है ही उसका माँगन क्या—

प्राप्य याचना वर्जित है,
आप भुजों से अर्जित है।
हम परभाग नही लेंगी,
अपना त्याग नही देंगी।

(ङ) मंथरा का चुपचाप चला जाना नवीन रूप है। वह 'मही पर माथा टेक' कर चुपचाप चली जाती है तो कैकेयी के मन में उसकी प्रतिक्रिया होती है। जब व्यक्ति सामने नही रहता तो उसकी कही हुई बातों का स्मरण अधिक होता है—

गई दासी, पर उसकी बात,
दे गई मानो कुछ आघात—
भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हे जो गेह।

(च) कैकेयी का चरित्र-चित्रण भी बिलकुल नवीन है। दोष न तो मंथरा का है, न उसके भाग्य का। वह स्वयं अपने से ही छली गई। इतनी बड़ी आत्म-प्रवंचना 'साकेत' में उसी ने सहन की है। पहाड़ के बराबर पाप करके क्या राई भर अनुताप करने का उसे अधिकार नही—

क्या कर सकती थी मरी मथरा दासी,
मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।

गुप्त जी ने कैकेयी द्वारा पश्चात्ताप करा कर उसके कलंकित चरित्र को धो डाला है। अपने को धिक्कारती हुई कैकेयी कहती है—

थूके मुझ पर त्रैलोक्य भले ही थूके,
जो कोई जो कह सके, कहे, क्यो चूके?
युग-युग तक चलती रही कठोर कहानी,
रघुकुल में भी थी एक अभागिन रानी।

इसका परिणाम यह हुआ कि राम के साथ-साथ सारी चित्रकूट-सभा चिल्ला उठी—

'सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।'

पाठक उससे घृणा नहीं करता, वरन् सहानुभूति करने लगता है।

(छ) राम के वनगमन पर प्रजा का सत्याग्रह करना भी नूतन प्रसंग है।

(ज) द्वादश सर्ग में अयोध्या के नागरिकों का युद्ध के लिये सन्नद्ध होने में भी कवि की मौलिकता है।

(झ) 'साकेत' की कौशल्या सती होने का प्रस्ताव करती है, वैधव्य-दुःख सहने के लिए जीवित नहीं रहना चाहती। परन्तु भरत और वशिष्ठ उसे रोक लेते हैं।

(ञ) साकेत में भरत ने कैकेयी का दोष भी अपने सिर ले लिया है। कौशल्या के सम्मुख स्वयं अपने को अपराधी मानते हुए भरत कहते हैं—

भरत अपराधी भरत है प्राप्त,
दो उसे आदेश अपना आप्त।
आज माँ मुझसे अधम है कौन ?
मुँह न देखो, पर न हो तुम मौन।

उक्त चार खंडों की व्याख्या के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'साकेत' 'मानस' का अवितथ रूप नही वरन् रामकाव्य-परम्परा का नवीन पुष्प है। जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है कोई कवि नितान्त नवीन उद्भावना नहीं करता। या तो किसी ग्रन्थ से वैसा रूप प्रस्तुत करने की प्रेरणा लेता है या उपस्थित प्रसंगो के आधार पर नवीन प्रसंग की संभावना कर लेता है। 'साकेत' में भी कवि ने ऐसा ही किया है। नूतन उद्भावना के अभाव में कृति अनुकृति-मात्र बन कर रह जाती है। रामकाव्य की सुदीर्घ परम्परा में भी 'साकेत' अपनी मौलिकता के कारण ही विवेच्य एवं चिरजीवी है।

'साकेत' में उर्मिला का विरह-वर्णन

राग और द्वेष की दो मूल विरोधी वृत्तियों से प्राणि-मात्र का जीवन स्पन्दन युक्त है। इनमे भी राग ही विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योकि यही जीवन और उसके आकर्षणों के प्रति आसक्ति का मूल कारण है। राग से प्रेरणा प्राप्त करके प्राणि-मात्र और विशेषत: मानव कर्म मे प्रवृत्त होते है। इसी से इसको जीवन की मूल प्रवृत्ति कहा गया है। सृष्टि का सृजन-स्रोत भी राग ही है। इससे प्रेरित होकर विपरीत लिंगीय प्राणी—नर और मादा, स्त्री और पुरुष—परस्पर आकर्षण का अनुभव करते हुए मन और शरीर के एकत्व की अनुभूति करते हैं, प्रजनन की ओर प्रवृत्त होकर वे भावी प्रजा की जीवन-शृंखला को जीवित रखते है। स्त्री और पुरुष के परस्परोन्मुखी भाव में किसी अवरोध के कारण जब एक पक्ष दूसरे पक्ष की अभाव-पीड़ा का अनुभव करता हुआ उसकी प्राप्ति और प्राप्ति-सुख के लिए विकल हो उठता है तब उसकी वेदना को विरह-भावना के नाम से अभिहित किया जाता है।

'साकेत' की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना वियोगिनी उर्मिला का विरह है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से इंगित पाकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के कवियों से उपेक्षिता उर्मिला के उद्धार की अपील की थी और उस काल के काव्य-महारथियों में मैथिलीशरण गुप्त ने इस कार्य को पूर्ण करने का बीड़ा उठाया था।

वियोग की पीड़ा वास्तविक वियोग में ही नही, प्रिय की अभाव-कल्पना में भी होती है। 'उसके बिना जीवन कैसे बीतेगा'—इस भाव से विरही का मानस सिहर उठता है। साकेत में उर्मिला की विरह-वेदना की अभिव्यक्ति 'प्रोषितपतिका' हो नहीं 'प्रवत्स्यत्पतिका' से रूप में भी हुई है।

साकेत के चतुर्थ सर्ग से उर्मिला का वियोग प्रारंभ होता है। उसके आसन्न-वियोग का वर्णन कवि ने बड़े वैदग्ध्य के साथ किया है। उर्मिला का प्रवत्स्यत्पतिका-रूप बड़ा ही करुण है। उस पर अचानक विपत्ति पड़ी है। अभी रात्रि में पति से संभाषणों का नारी के लिए संसार का सबसे बड़ा सुख सहसा उस नववधू के लिए चौदह वर्ष के लम्बे समय के प्रिय-वियोग के सबसे बड़े दु:ख में

बदल गया है । राम को कैकेयी की कृपा से जब राज्याभिषेक के स्थान पर वन-वास मिला तब लक्ष्मण भी स्वेच्छा से उनके साथ जाने को प्रस्तुत हो गए । सीता ने तो सोच लिया—

सीता ने सोचा मन में—
स्वर्ग बनेगा अब वन मे ।

किन्तु बेचारी उर्मिला कुछ न कह सकी । इस स्थिति में कवि ने उर्मिला से कुछ न कहलवाकर लक्ष्मण के मानस-पट पर उसकी करुण वियोगिनी मूर्ति की मौलिक कल्पना की है । माताओ और ज्येष्ठ के सम्मुख लक्ष्मण की नवविवाहिता पत्नी उनसे खुलकर बातचीत न कर सकती थी, अत. उसकी अभिव्यक्ति का इससे सुन्दर कोई दूसरा उपाय न हो सकता था । कर्त्तव्यनिष्ठ लक्ष्मण भाई के साथ जाने को तत्पर थे किन्तु भोली-भाली उर्मिला के हृदय की व्यथा भी उनसे छिपी न थी । अतः मन ही मन कर्त्तव्य की गुरुता का उत्तरदायित्व उसको समझाने की चेष्टा उन्होंने की—

उठी न लक्ष्मण की आँखे,
जकड़ी रही पलक पाँखे ।
किन्तु कल्पना घटी नही,
उदित उर्मिला हटी नहीं ।
खडी हुई हृदयस्थल में—
पूछ रही थी पल-पल में ।
मै क्या करूँ ? चलूँ कि रहूँ ?
हाय और क्या आज कहूँ ?
आः ! कितना सकरुण मुख था,
आर्द्र-सरोज-अरुण मुख था ।

लक्ष्मण ने सोचा कि—'अहो, कैसे कहूँ चलो कि रहो
यदि तुम भी प्रस्तुत होगी—तो संकोच सोच दोगी !
प्रभुवर बाधा पावेंगे, छोड़ मुझे भी जावेगे ।

नही-नही यह बात न हो, रहो ! रहो, हे प्रिये रहो ।
यह भी मेरे लिए सहो, और अधिक क्या कहूँ अहो ।।
लक्ष्मण हुए वियोगजयी, और उर्मिला प्रेममयी ।

वह भी सब कुछ जान गई, विवश भाव से मान गई ।
श्री सीता के कंधे पर, आँसू बरस पड़े झर-झर ।

पहन तरल-तर हीरे से, कहा उन्होंने धीरे से—
'बहन धैर्य का अवसर है', वह बोली 'अब ईश्वर है।'

ऊपर की पंक्तियों में भाषा भाव की तीव्र शक्ति तथा गम्भीर भार को सम्यक् रूप से बहन नही कर सकी, छन्द भी भाव के बहुत अनुकूल नही है, तथापि एक चित्र-सा मानस-चक्षुओं के सामने खिच जाता है। लक्ष्मण की द्विविधा, उनका मानस-निवेदन और उर्मिला का मूक उत्तर सभी कुछ बडा मर्मभेदक है। सारी क्रिया नारी-सुलभ वेदना से विगलित तीन शब्दों में प्रतिक्रिया बनकर निकल पड़ी है—अब ईश्वर है। सच भी है, ईश्वर की कल्पना मनुष्य ने यो ही नही की। विपत्ति मे दृश्य मानव का स्वार्थ नही, अदृश्य ईश्वर का परमार्थ ही काम आता है। तीन शब्द पर्याप्त है।

वन-गमन के अवसर पर उर्मिला के द्वन्द्व का चित्रण कवि और भी मार्मिक कर सकता था। पर उसने जानबूझ कर ऐसा नही किया। रामकाव्य की मर्यादाएँ सीमा में ही सन्तुष्ट रहती है। माता से भी लक्ष्मण को जब वन जाने की स्वीकृति मिल गई तो उर्मिला अपने धड़कते हुए हृदय को समझाने लगी—

कहा उर्मिला ने हे मन ! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा ! है अनुराग विराग भरा ॥

उर्मिला का चुप रहना बड़ा सार्थक एवं पूर्ण है। उस पर वह स्वयं नही, सीता बोलती है। सीता कितना बडा सत्य प्रकट करती है—

सास-ससुर की स्नेहलता, बहन उर्मिला महाव्रता,
सिद्ध करेगी वही यहाँ, जो मैं भी कर सकी कहाँ ?

उर्मिला के लिए इससे बड़ी अनुशंसा और क्या हो सकती है। उर्मिला के हतचेत हो गिर जाने पर सीता फिर कहती है—

आज भाग्य जो था मेरा,
वह भी हुआ न हा ! तेरा।

उर्मिला के प्रति सीता, कौशल्या, सुमित्रा, लक्ष्मण, राम सभी को तीव्रतम सहानुभूति है। यदि वह स्वयं बोलकर अपनी स्थिति स्पष्ट करती, तो इस अमूल्य सहानुभूति के लिये अवकाश कम रह जाता अथवा वह उतनी मूल्यवान् न हो पाती। इस प्रसंग में साकेत के विद्वान् आलोचक डॉ० नगेन्द्र ने गम्भीर तथ्य प्रकट किया है। उनके शब्दों में कवि ने दूसरों की कातरता के द्वारा वियोगिनी की कातरता की अभिव्यक्ति की है। उक्त भावनायें उर्मिला की दयनीयता को पुष्ट करती है। वह सबसे अधिक निराधार है। परन्तु यदि वह स्वयं ही उक्त

भावनाओं को शब्दों मे व्यक्त करती, तो वे ईर्ष्या का रूप धारण कर लेती इसलिए कवि ने राम और सीता के द्वारा उनकी ओर संकेत कराया है। यह उसका कौशल है। इससे नायिका की गौरव-गरिमा की संरक्षा हुई है। (साकेत : एक अध्ययन, पृष्ठ ४३)

छठे सर्ग मे उर्मिला का चित्र एक ऐसी विरहिणी का चित्र है, जिसका जीवन-सर्वस्व चौदह वर्ष तक देखने को भी नही मिल सकता। आसन्न-वियोग की वेदना मूक रहती है, क्योकि तब प्रस्तुत वस्तु अप्रस्तुत बनने वाली होती है। किन्तु प्रिय के प्रवास की स्थिति मे पूर्ण वियोग की वेदना मुखर रहती है, क्योकि तब अप्रस्तुत ही अप्रस्तुत का बोलबाला होता है। यही कारण है कि प्रवत्स्यत्पतिकाये रोती अधिक है, प्रोषितपतिकाएँ बिसूरती और बोलती अधिक है। उर्मिला का—

नव वय में ही विश्लेष हुआ,
यौवन मे ही यति-वेष हुआ।

पर उसकी विकलता के पीछे उच्चादर्श की अद्वितीय शक्ति विद्यमान है—

आने का दिन है दूर सही,
पर है, मुझको अवलब यही।
आराध्य-युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मै पा चुकी सभी।

वियोग की सबसे बड़ी शक्ति है प्रिय के प्रेम में विश्वास। विरही साकार प्रिय से मिल नही सकता। पर सूक्ष्मतः वह स्मृति में प्रिय से स्वयं तो मिल ही लेता है, यह चाहता है कि वह भी स्मृति में उससे मिले। एक स्मृति पर्याप्त है। यहाँ वह स्मृति कर्त्तव्य की शक्ति से समन्वित होने के कारण बड़ी ही पवित्र है।

साकेत का आठवाँ सर्ग अपने अग्रगामी नवम सर्ग के साथ-साथ काव्य का सर्वश्रेष्ठ सर्ग है। यदि हम नवम सर्ग की कला पर मुग्ध होते हैं तो आठवें सर्ग की अनुभूति-प्रवणता पर पर रो-रो पड़ते है। इस मनोहारी सर्ग में उर्मिला की तीन हल्की पर बेधक झाँकियाँ देखने को मिलती है।

सीता अपनी पर्णकुटी के सामने की वाटिका सींचती हुई गा रही है, वे पूर्ण प्रफुल्ल है। पर सहसा उन्हे उर्मिला का ध्यान आ जाता है—

देवर के शर की अनी बना कर टाँकी,
मैंने अनुजा की एक मूर्ति है आँकी।

आँसू नयनो में, हँसी बदन पर बाँकी,
काँटे समेटती, फूल छीटती झाँकी ।
निज मन्दिर उसने यही कुटीर बनाया ।
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया ॥

यह सात्विक विरह का, मार्मिक चित्र है जो उर्मिला पर बहुत ही ठीक बैठता है, क्योंकि उसने अपने प्रियतम को सेवाधर्म-पालनार्थ जाने से रोकना तो दूर टोका भी नही ।

आठवें सर्ग के अंत में लक्ष्मण और उर्मिला की एक घड़ी से भी कम की भेंट बड़ी हृदय-वेधक तथा करुण है । पारिवारिक जीवन के कुशल शिल्पी मैथिलीशरण की सीता दोने लाने के बहाने से लक्ष्मण को कुटीर के अन्दर भेजती है । यह बहाना मर्मस्पर्शी है, जो भारतीय परिवार की मर्यादा और साथ ही साथ, सरल तरलता से भी परिपूर्ण है । कुटीर के अन्दर जाने पर लक्ष्मण को कोणस्थ उर्मिला-रेखा दीख पड़ी । विरह-जर्जर उर्मिला के स्थान पर उर्मिला-रेखा का प्रयोग बड़ा ही गम्भीर है । कवि स्पष्ट कहता है—

यह काया है या शेष उसी की छाया,
क्षण भर उनकी कुछ नही समझ में आया ।

वे इसी द्विविधा में पड़े है कि सुनाई पड़ता है—

मेरे उपवन के हरिण आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें, तजो भय भारी ।

इस आश्वासन का लक्ष्मण क्या उत्तर दे सकते थे ? वे ठीक ही उर्मिला के चरणों पर गिर पड़े । उर्मिला को इससे अधिक वे वनवासी दे ही क्या सकते थे ? इससे अधिक एक श्रेष्ठ पुरुष अपनी एक महीयसी नारी को दे ही क्या सकता है ?

लक्ष्मण पैरों पर गिरने के बाद जो कहते हैं, वही उस परिस्थिति में वे कह भी सकते थे, कुछ और कहते तो उपयुक्त होता या नही, कौन कह सकता है ?—

वन में तनिक तपस्या करके
बनने दो मुझको निज योग्य,
भाभी की भगिनी, तुम मेरे
अर्थ नही केवल उपभोग्य ।

इतनी बड़ी सम्पत्ति पाकर उर्मिला का यह कहना सर्वथा समीचीन है—

हा स्वामी ! कहना था क्या-क्या
कह न सकी, कर्मों का दोष,

पर जिसमें संतोष तुम्हे हो
मुझे उसी में है संतोष।

'साकेत' के नवम सर्ग में उर्मिला की विरह-वेदना का विशद चित्रण हुआ है। इस सर्ग की रचना का मुख्य उद्देश्य उर्मिला का विरह-वर्णन ही है। यहाँ प्रिय-विरह में उर्मिला की क्षण-क्षण में बदलती हुई मनोदशाओं के अनेक मार्मिक चित्र उपस्थित किए गये हैं। उसके हृदय में आकाक्षा, चिन्ता, स्मृति, उद्वेग, उन्माद आदि विविध वृत्तियो का उदय स्वाभाविक ढग से दिखाया गया है। प्रिय के मिलने की अभिलाषा उर्मिला के हृदय में कई बार तीव्र वेग के साथ उद्वेलित होती है। इस अभिलाषा के कारण वह प्रियतम के पास पहुँचना चाहती है किन्तु साथ ही उनके व्रत में विघ्न उपस्थित करना उसे अभीष्ट नही। वह झुरमुट की ओट से ही अपने प्रिय को देखकर सन्तोष लाभ कर सकती है—

बीच-बीच में उन्हें देख लूँ मै झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायँ तब लेटूँ उसी धूल में लोट।
रहे रत वे निज साधन में,
यही आता है इस मन में।

अपने विरही जीवन से तंग आकर भी उर्मिला प्रिय-मिलन की अभिलाषा के कारण अपनी सखी का कहना मान कर सब कुछ करने को प्रस्तुत हो जातो है—

पिऊँ ला, खाऊँ ला, सखि, पहन लूँ ला सब करूँ,
जिऊँ मै जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो, मानूँ सो, किस विध बता, धीरज धरूँ?
अरी, कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ।

विरह-दशा में उर्मिला के हृदय में अपने सुखमय बाल्य और यौवन की अनेक स्मृतियाँ उपस्थित होती हैं। ये स्मृतियाँ उसकी वेदना को और भी तीव्र बना देती है। दुख के समय सुखद घटनाओं की स्मृति अति दुःखदायिनी होती है। उर्मिला को कभी लक्ष्मण के साथ झूला झूलने की तो कभी उन्हें भोजन खिलाने की याद आती है—

नंगी पीठ बैठकर घोड़े को उड़ाऊँ कहो........
बाहर से संकुचित, भीतर से फूले-से।

× × ×

बनाती रसोई, सभी को खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।

किन्तु इस विरह-दशा में उसका पूर्वानुभूत सुख भी विषाद का कारण बन जाता है। युवावस्था मे ही उर्मिला को प्रिय-विरह का दुःख सहना पडता है। कभी-कभी उसका यौवन मचल पड़ता है और उसका कोमल हृदय अधीर हो जाता हे। यौवन की उमंगे उसके हृदय को सालती है। किन्तु वह किसी तरह उन्हे समझा-बुझाकर शान्त कर देती है—

मेरे चपल यौवन-बाल।
अचल-अंचल मे पडा सो, मचल कर मत साल॥

कभी-कभी उर्मिला विरह-ताप की तीव्रता के कारण प्रलाप करने लगती है। इस दशा मे वह कभी चौक पड़ती है किन्तु उसे इस प्रकार चौकने का पूरा ज्ञान नहीं रहता। वह अपनी सखी से पूछती है—

क्या क्षण क्षण मे चौक रही मै ?
सुनती तुझ से आज यही मै।
तो सखि, क्या जीवन न जनाऊँ ?
इस क्षणदा को विफल बनाऊँ ?

कभी वह अवधि का स्मरण न करके जागती हुई भी प्रियतम को 'आओ' कहकर निमन्त्रित करती है और कभी स्वप्न मे उन्हे पाकर शीघ्र ही अवधि का ध्यान करती हुई चौक कर 'जाओ' कह उठती है—

भूल अवधि-सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी—'आओ'
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौक बोल कर—'जाओ'।

प्रोषितपतिका उर्मिला को कर्त्तव्य-भावना निरंकुश नहीं होने देती। मन प्रिय को समीप बुलाना चाहता है किन्तु कर्तव्य कुछ ही क्षण मे भावना पर विजय प्राप्त कर लेता है।

उर्मिला के इस कथन की व्याख्या विभिन्न विद्वानो ने पृथक्-पृथक् ढग से की है।

कन्हैयालाल सहल कहते है—

"उर्मिला मध्या नायिका है। जागृतावस्था में भी जब उर्मिला को चौदह वर्षों की अवधि का स्मरण न रहता तो वह लक्ष्मण को संयोग सुख के लिए आमंत्रित करती थी, जब स्वप्न में लक्ष्मण से मिलन होता तो मध्या नायिका की भाँति चौककर 'जाओ' कह उठती थी।" (साकेत के नवम सर्ग का काव्य वैभव, पृ० ८)

सहल जी का उपर्युक्त वक्तव्य कामशास्त्र के अनुसार 'मध्या नायिका' के भेद मे हो सकता है ठीक बैठता हो किन्तु वह उर्मिला के प्रसंग मे मनोविज्ञान-

संगत नही है। जागते हुए का अर्थ यहाँ जाग्रत अवस्था नहीं है अर्ध-विस्मृता-वस्था है।

डॉ० नगेन्द्र इसे अर्धविस्मृतावस्था ही कहते है। इस विषय में उनका कहना है—

"परन्तु उर्मिला की इस अर्ध-विस्मृति के पीछे इस युग के मनोविज्ञान की अन्तर्धारा है। इसमें रूढि का पालन नही, स्वाभाविक स्थिति का चित्रण है। वहाँ आदर्श और कामना के बीच सघर्ष है। आदर्श कहता है 'जाओ' भाव कहता है 'आओ'। इसी द्वन्द्व की अन्तर्धारा उसकी अर्ध-विस्मृति के मूल में बह रही है।" (साकेत : एक अध्ययन)

यह अर्धविस्मृतावास्था विरही की स्वाभाविक यथार्थ अनुभूति और उन्माद की अवस्था के बीच की कड़ी है। इसे उद्वेग से कुछ आगे की स्थिति कह सकते हैं। आदर्श और भावना के संघर्ष से जिस उद्वेग का मन मे उदय हुआ वही इस अर्धविस्मृतावस्था के रूप में विरही को अवचेतना मे छिपी यथार्थ कामना और उसके चेतना को झकझोरते हुए आदर्श का द्वन्द्व बनकर प्रकट होता है।

विरह-वर्णन की प्राचीन परिपाटी के अनुसार विरही व्यक्ति उद्दीपन विभागो को दुःखदायी समझ कोसा करते है। पर उर्मिला के विरह-वर्णन में गुप्त जी ने जड़-चेतन सारी प्रकृति के साथ विरहिणी उर्मिला की सहानुभूति प्रदर्शित की है। विरह वेदना के कारण उर्मिला का हृदय कोमल हो जाता है और उसमे करुणा जाग्रत हो जाती है। वह विरह मे सारी प्रकृति के साथ संवेदना प्रकट करती है—

> सीचे ही बस मालिनें कलश ले, कोई न ले कर्तरी,
> शाखी फूल-फलें यथेच्छ बढ़ के, फैलें लताएँ हरी।

वह अपने समान प्रोषितपतिकाओं को निमंत्रित कर उनसे सहानुभूति प्रकट करती है—

> प्रोषितपतिकाएँ हो जितनी भी सखि उन्हें निमंत्रण दे आ
> समदु:खिनी मिले तो दुख बँटे जा प्रणयपुरस्सर ले आ।

नाचते हुए शिखी को देख उसका हृदय सन्तोष-लाभ करता है। वह उसके नृत्य में बाधा डालना नही चाहती—

> 'न जा उधर हे सखी,
> वह शिखी सुखी हो, नये।

इसी प्रकार उर्मिला कोक-कोकी को धीरज बँधाती हुई कहती है—

'कोक-शोक मत कर हे तात।'

प्रिय-विरह मे उर्मिला को सुखद वस्तुएँ भी दुखद प्रतीत होती हैं। वह सुरभि को अपने पास आने से रोकती है—

अरी, सुरभि जा, लौट जा, अपने अंग सहेज।
तू है फूलो मे पली, यह काँटो की सेज॥

सखी का तालवृन्त से हवा करना उसे अच्छा नही लगता क्योकि इससे उसकी विरहाग्नि के और भी उद्दीप्त होने की सभावना है। इसी प्रकार मलयानिल को लौट जाने का आदेश देती है। उसे डर है कि कही उसके सम्पर्क में आकर वह लू में परिणत न हो जाय—

जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू होकर कही, तू अपने को आप॥

प्रिय-विरह में जलती हुई उर्मिला स्वप्न में भी प्रियतम की बाट जोहती है—

आओ हो आओ, तुम्ही प्रिय के स्वप्न विराट।
अर्घ्य लिए आँखें खड़ीं हेर रही है बाट॥

किन्तु रात के बीत जाने पर स्वप्न में भी प्रिय के दर्शन न पाकर उसे विशेष निराशा होती है—

हाथ न आया स्वप्न भी और गई यह रात,
सखि, उडुगण भी उड़ चले, अब क्या गिनूँ प्रभात।

उर्मिला के विरह-वर्णन में अबला हृदय की विवशता, दीनता, और सहनशीलता की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। विरह की ज्वाला में तपकर उर्मिला का प्रेम ऐहिक न रह कर आध्यात्मिक रूप धारण कर लेता है। वह अपने मानस-मन्दिर में प्रिय की प्रतिमा स्थापित करके विरह में जलती हुई स्वयं आरती बन जाती है—

मानस-मन्दिर में सती, प्रिय की प्रतिमा थाप।
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप॥

इसी विरह-वेदना ने उर्मिला की आँखों में बसने वाले प्रियतम को उसके हृदय में प्रतिष्ठित कर दिया है—

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे
छीटे वही उड़े थे, बड़े-बड़े अश्रु वे कब थे?

प्रिय-विरह में आँसू बहाती हुई उर्मिला का सजीव चित्र इन शब्दो मे अंकित हुआ है—

अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार,
तिल-तिल काट रही थी दृग-जल-धार।

सृष्टि-कल्याणमूलक विरह-वर्णन द्विवेदी-युग की हिन्दी को एक बड़ी प्रभाव भरी देन है। यों तो कालिदास का यक्ष भी मेघ के लिए कभी भी बिजली से वियुक्त न होने की कामना करता है, पर वहाँ कवि की संयोगात्मक रुचि काम करती है। हिन्दी मे सृष्टि-कल्याणमूलक विरह-वर्णनो का प्रारम्भ 'प्रियप्रवास' से प्रारम्भ होता है। हरिऔध की राधा सृष्टि-कल्याण एवं दुखियो की सेवा की कामना ही नही करती है, उसे क्रियात्मक रूप भी प्रदान करती है। पर हरिऔध जी की राधा की सृष्टि-कल्याण-भावना एवं व्यक्तियो के प्रति सहानुभूति किसी पूर्व सुनियोजित क्रम के आधार पर न होकर युग-प्रभाव के रूप में प्रकट हुई है। मैथिलीशरण की उर्मिला में वह सुनियोजित एवं सुसम्बद्ध रूप लेकर प्रकट हुई है।

विरह में आदर्श को अत्यन्त प्राचीन काल से ही स्थान मिलता आया है। सच पूछा जाय तो पवित्र प्रेम स्वय अपने में सबसे बडा एवं चिरन्तन आदर्श है। विरह इस आदर्श का भी आदर्श है। इस स्थिति में विरह में उच्चादर्शों की अवतारणा स्वाभाविक ही है। पर द्विवेदी-युगीन काव्य में देश की परिस्थिति ने विरह में जिस सेवावृत्ति का चित्रण किया, वह मनोवैज्ञानिक मापदण्ड से बहुत ऊपर उठी हुई थी। पथिक, प्रियप्रवास मे यही दिखायी पड़ता है। साकेत में मध्यम पथ अपनाया गया है। ऐसा आवश्यक भी था। रामकाव्य आदर्शमूलक काव्य है। आदर्श प्रधान युग से सम्बन्धित कथानक में आदर्श को कुछ न कुछ स्थान देना ही समीचीन है।

किन्तु नवम सर्ग के सम्बन्ध में गाँधी जी को लिखे गये अपने पत्र में मैथिलीशरण ने योगजन्य तथा रामजन्य शब्दों का जो प्रयोग किया है, उस दृष्टि से 'फूल न मारो' तथा 'चपल यौवन-बाल' समीचीन नही बैठता। कवि ने बापू को लिखा था "साकेत में मैने कालिदास की प्रेरणा से उस प्रेम की एक झलक देखने की चेष्टा की है, जो भोग से प्रारंभ होकर, वियोग झेलता हुआ, योग में परिणत हो जाता है। प्रथम सर्ग में उर्मिला और लक्ष्मण का प्रेम भोगजन्य किंवा कामजन्य है। उसी को योगजन्य अथवा रामजन्य देखने के उद्योग में साकेत की सार्थकता है।" (साकेत के नवम सर्ग का काव्य-वैभव, पृ० १५०)

मेरी समझ में प्रथम सर्ग का प्रेम तो भोगजन्य किंवा कामजन्य है, पर नवम

सर्ग का प्रेम योगजन्य न होकर वियोगजन्य है और रामजन्य न होकर लक्ष्मण-जन्य है, होना भी ऐसा ही चाहिए। बात यह है कि जिस समय (१९३२ ई०) में गुप्त जी ने उक्त पत्र लिखा था, उस समय भारत मे मौखिक आध्यात्मिकता अपने चरम उत्कर्ष पर थी। रवि बाबू मेघदूत और शाकुतल की आध्यात्मिक व्याख्या करते थे, गीत गोविन्द और सूर-सागर मे रहस्यवाद की खोज चालू थी, विद्यापति के भक्त होने पर निबन्ध लिखे जा रहे थे और हिन्दी के रहस्यदर्शी युवक कवि तथा कवयित्रियो द्वारा उपनिषदो तथा संहिताओ के उद्धरण बटोरे जा रहे थे। इस स्थिति मे यदि उर्मिला के वियोग-प्रकरण मे गुप्त जी 'योग' शब्द पर बेतरह रीझे, तो क्या आश्चर्य !

साकेत के दशम सर्ग में भी उर्मिला का विरह-वर्णन ही है। पर यहाँ वह नवम सर्ग की भाँति गीतिकाव्यात्मक न होकर प्रबन्धात्मक या कथात्मक है। इस सर्ग में विरह से दुर्बल हुई उर्मिला अपने बाल्यकाल, माता-पिता के वात्सल्य, लक्ष्मण के प्रथम दर्शन तथा उसकी प्रतिक्रिया, तज्जन्य स्वप्न, धनुर्भंग, परशुराम-प्रसंग, विदाई तथा अपने छोटे से प्रिय-संयुक्त जीवन को संस्मरण से सुनाती है। सरयू के प्रति उसकी सहानुभूति है, क्योंकि सरयू भी अपने प्रिय सागर से वियुक्त है तथा भटक रही है, दौडी जा रही है। उसी से वह सब कुछ कह जाती है।

दशम सर्ग का वियोग-वर्णन अनुभूत्यात्मक न होकर कथात्मक है। कवि का लक्ष्य कथा कहना है, उर्मिला तो जैसे निमित्त मात्र है।

रीतिकालीन नायिकाओ के विरह-वर्णन की तरह उर्मिला का विरह-वर्णन भी कतिपय स्थलो पर अतिशयोक्तिपूर्ण दृष्टिगोचर होता है। विरह-विधुरा उर्मिला की आहो से आकाश मे फफोले पड़ने लगते है—

नैश गगन के गात्र में पड़े फफोले हाय,
तो क्या अरी, न आह भी करूँ आज निरुपाय ? (सर्ग ९)

तालवृन्त की हवा से उसकी विरहाग्नि के भडकने, उसके विरहतप्त शरीर को छूकर मलयानिल के लू में परिणत हो जाने और जल की बूँदों के विरह के ताप से भाप में बदलने—

बुँदियों को भी आज इस तनु-स्पर्श का ताप,
उठती है वे भाप-सी गिर कर अपने आप।

की कल्पनाएँ रीतिकालीन विरह-वर्णन के प्रभाव से प्रभावित दिखाई देती है। कही-कहीं साकेत के विरह वर्णन में अनुभूति और सरसता का स्थान आलकारिक चमत्कार ने ले लिया है। ऋतु-वर्णन में भी यत्रतत्र प्राचीन परंपरा की छाप दिखाई देती है। साकेत का विरह-वर्णन सीमा से अधिक विस्तृत दिखाई देता है।

कतिपय त्रुटियों के होते हुए भी उर्मिला के विरह-वर्णन में मार्मिक, भावपूर्ण और सरस स्थलों की कमी नही है। कही-कही अस्वाभाविकता के होते हुए भी साधारणतया साकेत के विरह-वर्णन में मर्यादा और शिष्टता का पालन हुआ है। विरह-दशा में षट्ऋतु-वर्णन प्राचीन होकर भो नवीनता लिए हुए है।

विरह-दशा में भी उर्मिला की कर्त्तव्यबुद्धि आदि से अंत तक स्थिर रहती है। उसकी यह कर्त्तव्य-परायणता उसे रीतिकालीन साधारण विरहिणी नायिकाओं से ऊपर उठा देती है। कर्त्तव्य-परायणा उर्मिला के विरह में स्वार्थ, ईर्ष्या और स्पर्धा का अभाव है। उसके विरह का मानसिक पक्ष ऐन्द्रिक पक्ष की अपेक्षा प्रबल है। उसमें अधिक स्वाभाविकता और भावमयता है।

'साकेत' में नायकत्व की समस्या

महाकाव्य के तत्त्वो में नायक नामक तत्त्व को भी प्रमुख स्थान दिया जाता है। वस्तुत. नायक के रूप में एक महान् चरित्र की सृष्टि के लिए ही कवि महाकाव्य की रचना में प्रवृत्त होता है। महाकाव्य में प्रधान चरित्र (नायक) की महत्ता प्रतिपादित करते हुए श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा है—

"मन में जब एक वेगवान अनुभव का उदय होता है, तब कवि उसे गीति-काव्य में प्रकाशित किए बिना नही रह सकते। इसी प्रकार मन में जब एक महत् व्यक्ति का उदय होता है, सहसा जब एक महापुरुष कवि के कल्पना-राज्य पर अधिकार आ जमाता है, मनुष्य-चरित्र का उदार महत्त्व मनश्चक्षुओं के सामने अधिष्ठित होता है, तब उसके उन्नत भावों से उद्दीप्त होकर, उस परम पुरुष की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए, कवि भाषा का मन्दिर निर्माण करते हैं। उस मन्दिर की भित्ति पृथ्वी के गंभीर अन्तर्देश में रहती है और उसका शिखर मेघों को भेदकर आकाश में उठता है। उस मन्दिर में जो प्रतिमा प्रतिष्ठित होती है, उसके देवभाव से मुग्ध और उसकी पुण्य किरणों से अभिभूत होकर नाना दिग्देशों से आ-आकर, लोग उसे प्रणाम करते है। इसी को कहते है महाकाव्य।" (मेघनाद-वध, हिन्दी अनुवाद, चिरगाँव-झाँसी, मवत् २००८, भूमिका-भाग, पृष्ठ १३७)

महाकाव्य की आधिकारिक कथा का नेतृत्व करने के लिए एक ऐसे पात्र की सृष्टि की जाती है जो फल का भोक्ता होता है। यही पात्र कथा का मेरुदण्ड होता है। इसी को महाकाव्य का नायक भी कहा जाता है। महाकाव्य का लक्षण स्पष्ट करते हुए 'साहित्य-दर्पणकार' विश्वनाथ ने महाकाव्य में नायक का होना एक अनिवार्य लक्षण माना है। उनके विचार से नायक कोई धीरोदात्त देवता अथवा कुलीन क्षत्रिय होना चाहिए। भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में नायक का वर्गीकरण करते हुए उसके गुणों का उल्लेख किया है। इनके अनुसार धीरोदात्त नायक ही महाकाव्य का आधार बन सकता है। तात्पर्य यह कि महाकाव्य में नायक एकांगी रूप के स्थान पर बहुअंगी रूप में ही चित्रित होना चाहिये। महाकाव्य में महान् भावनाओ का अकन होता है, अतः नायक भी महान् गुणों से युक्त होना चाहिए।

यह बात सही है कि महाकाव्य का नायक कोई महान् व्यक्ति होना चाहिए जो कि जातीय भावनाओं और आदर्शों का प्रतिनिधि बन सके, पर नायक की महत्ता उच्चकुल में जन्म लेने के कारण नही, प्रत्युत उसके उदात्त गुणो पर आश्रित होनी चाहिए। प्राचीन महाकाव्यो में कोई महान् पुरुष ही नायक के पद पर प्रतिष्ठित होता था, किन्तु अर्वाचीन महाकाव्यों में नारी को भी अपनी चारित्रिक महत्ता के कारण महाकाव्य में प्रधान पात्र (नायिका) बनने का अधिकार मिलने लगा है। महाकाव्य के नायक में मानवोचित दुर्बलताओ के होते हुए भी उसे किसी महान् कार्य के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

भारतीय महाकाव्य परपरा एक ही नायक को स्वीकार करती है, किन्तु आधुनिक युग में एक नायक की परंपरा को क्षति पहुँची है। आज के विद्वद्गण महाकाव्य में दो नायकों की स्थापना करने में दोष नही मानते। रसानुभूति मे बाधा नही पड़े, तो फिर चाहे एक पात्र प्रमुख हो अथवा दो हों, इसे काव्यगत दोष स्वीकार नही करना चाहिए।

डॉ० कमलाकान्त पाठक ने इस विषय में लिखा है—

"नयी साहित्यिक विचारणा यह आवश्यक नही समझती कि नायक और नायिका पति-पत्नी अथवा प्रेमी-प्रेमिका ही हो। वे दो प्रमुख पात्र भी हो सकते है।"

(मैथिलीशरण गुप्त : व्यक्ति और काव्य, पृ० ४४४)

आज का साहित्यकार रूढ़िगत परंपराओं का अंधानुकरण न करके नवीनता का अन्वेषी है। आज का आलोचक भी इस बात को स्वीकार करता है— "मै यह सोचता हूँ कि क्या यह आवश्यक है कि काव्य में एक ही पात्र को प्रधानता दी जाय? अगर रसानुभूति में बाधा नही पड़ती, भावोद्रेक की आनन्दमूलक अन्विति में कमी नही आती तो अधिक पात्रो की प्रधानता में कोई हानि नही।"

(साकेत दर्शन, पृ० ६—त्रिलोचन पाण्डेय)

'साकेत' में नायक की समस्या राम-कथा की प्रमुखता के कारण गहन हो गयी है। साकेत के नायकत्व पर विचार करने के लिए वर्णित कथा, रस, फल, प्रमुख चरित्र तथा काव्य में उनकी व्यापकता, सक्रियता तथा अन्य पात्रो से सम्बन्ध, आदि विषयों पर विचार करना आवश्यक है। साकेत में प्रमुख कथा एवं अवान्तर कथाओं का सगुफन पर्याप्त मात्रा में मिलता है। यदि तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो प्रमुख कथाओ का निर्वाह लक्ष्मण-उर्मिला-सम्बन्धी प्रणय-कथा तथा राम-सीता-संबंधी कथा के रूप में हुआ है एव ये दोनों कथाएँ आपस में इस प्रकार संगुम्फित है कि इनको एक दूसरे से पृथक् नही किया जा सकता।

उर्मिला और लक्ष्मण की कथा का विकास रामकथा की पृष्ठभूमि में हुआ है। यद्यपि काव्य की मूल प्रेरणा उर्मिला के उपेक्षित जीवन को प्रकाश में लाना है, किन्तु गुप्त जी का राम के प्रति अनुराग इस राम कथा-सम्बन्धी काव्य में गौण रूप धारण नही कर सका है, अतएव दोनों कथाओ से सम्बन्धित लक्ष्मण और उर्मिला तथा राम—ये तीन व्यक्ति नायकत्व को प्राप्त करने के अधिकारी है।

डॉ० प्रतिपाल सिह का मन्तव्य है कि "गुप्त जी अपने आराध्य देव राम को न भुला सके और अनायास ही उन्हें प्रमुख स्थान पर ला बैठाया।"

(बीसवी सदी के महाकाव्य, पृ० १३२)

डॉ० गोविन्दराम शर्मा के विचार में "सती-शिरोमणि उर्मिला साकेत की नायिका है। वह रघुकुल की असहाय वधू, मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र की अनुज-वधू, भ्रातृभक्त लक्ष्मण की पत्नी, ज्ञानी जनक की पुत्री और पतिप्राणा सीता की छोटी बहन है। उसका हृदय त्याग और विशुद्ध प्रेम से परिपूर्ण है।"

(हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य, पृ० १८८)

प्रो० त्रिलोचन पाण्डेय ने 'साकेत-दर्शन' में राम को भी साकेत का नायक स्वीकार किया है।

मत-वैभिन्न्य होते हुए भी अधिकतर आलोचकों की दृष्टि मे उर्मिला का विरह ही साकेत की प्रधान घटना है। यहाँ लक्ष्मण कारण है। साकेत का आरंभ लक्ष्मण-उर्मिला के हास-परिहासपूर्ण वार्ता से होता है। राम-वनगमन तक की सभी घटनायें उर्मिला के विरह की भूमिका बनती है। नवम एवं दशम सर्ग में कवि ने उर्मिला के विरह-विदग्ध अवरुद्ध अन्तर को खोलने का उन्मुक्त प्रयत्न किया है। सीता-हरण और लक्ष्मण-शक्ति प्रसंगों द्वारा कवि ने उसकी मूक वेदना को चरम सीमा तक पहुँचा दिया है। वह वियोगिनी अपने प्रियजनो के अनिष्ट समाचार से ही विह्वल हो उठती है एवं उसके हृदय में प्रतीकार की भावना उद्बुद्ध होती है। वह शत्रुघ्न के साथ लंका प्रस्थान की तीव्र इच्छा व्यक्त करती है। साकेत का अंत भी उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन पर ही होता है। यही पर फलागम स्वीकार करना समीचीन है। सबसे प्रमुख बात तो यह है कि गुप्त जी उर्मिला से एक क्षण के लिये भी विलग नहीं होते। साकेत में बैठी साध्वी उर्मिला को छोड़कर कवि राम के साथ बन में न जा सका। यदि वह चित्रकूट गया भी है, तो समस्त साकेत के साथ ही। अन्य सभी कथाएँ शत्रुघ्न, हनुमान तथा वशिष्ठ जी के द्वारा कहलायी गयी हैं। रामचरितमानस की भाँति साकेत का मुख्य कार्य रावण बध नही है, अपितु सभी घटनाओं की रंगस्थली अयोध्या है और उर्मिला का विरह उसकी सबसे प्रधान घटना है।

का अंगीरस भी उनकी मूल प्रेरणा से सम्बन्धित नही है, न ही उन्हे फल का स्वामित्व प्राप्त है और न ही वे मुख्य कथा का नेतृत्व करते है। सर्वप्रथम वे सप्तम सर्ग में अवतीर्ण होते है और अष्टम सर्ग में चित्रकूट सभा के बाद लुप्त होकर एकादश सर्ग में साधु रूप में पाठको के सामने आते है। द्वादश सर्ग में राम तथा सीता के श्रीचरणों पर अश्रु गिरा कर वे पुन: लुप्त हो जाते है किन्तु इससे कथा का धारा-प्रवाह अवरुद्ध नही होता, अपितु फलागम की स्थिति आती है। अतः फल का भोक्ता भी भरत नही बन सके, इस स्थिति में उन्हे साकेत का नायक कैसे स्वीकार किया जाय ?

एक पक्षीय विचारधारा वाले समीक्षकों की दृष्टि में उर्मिला का नारीत्व नायकत्व के लिए ठीक नही है। किन्तु इस विषय में उन्हे जीवन के बदले हुए मूल्यो, सामाजिक परिवर्तनो एव आधुनिक भावनाओ की ओर ध्यान देना चाहिए। आधुनिक युग में सामतकालीन दमित एवं प्रताड़ित नारी को उन्मुक्त श्वास लेने का अवसर प्राप्त हुआ है। आज वह अपने अधिकारो के प्रति सजग है। वस्तुतः आज की नारी अबला न रहकर सबला हो गई है। जीवन के कठिनतम क्षणो में वह पुरुष का साथ देने को तत्पर ही नही है, अपितु जीवन के गहनतम पहलुओ पर विचार करने की क्षमता भी उसमें विद्यमान है। फलतः आज का साहित्यिक उसे अपने काव्य में प्रमुख रूप देने में भी सकोच नही करता। उर्मिला की गणना भी उन्ही स्त्रियों में है, जिसने परहित के लिए अपने सम्पन्न एवं सुखद जीवन को भी न्योछावर कर दिया।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी को उर्मिला में धीरोदात्त नायक के लक्षण नही दीखते। उनका कहना है "उर्मिला की चरित्र-सृष्टि में भो भावनात्मक आदर्शवादिता का स्वरूप ही स्पष्ट हो सका है, जो समस्त अवस्थाओ में नायिका के महत्त्वानुरूप नहीं कहा जा सकता।" (आधुनिक काव्य, पृष्ठ १०२)

वाजपेयी जी का यह तर्क ठीक नही है। उर्मिला मे मानव-सुलभ दुर्बलताएँ सहज स्वाभाविक है। उसका नारी-हृदय प्रवास-जन्य विरह में व्याप्त अपनी तड़पन एवं कसक को प्रस्फुटित करता है जो मानव-प्रकृति तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पूर्णतया स्वाभाविक ही है।

उर्मिला में धीरोदात्त नायिका के गुणों का विवेचन करते हुए डॉ० उमाकान्त गोयल ने लिखा है—"उर्मिला और द्रौपदी रुदनशीला है, किन्तु उनकी करुण परिस्थितियाँ भी तो देखिए। अपरिमेय कष्ट-सहिष्णुता उनकी धीरता की ही परिचायिका है और यदि उनके व्यक्तित्व का ओज ही देखना है, तो पाप-सभा में दुःशासन को दुत्कारती हुई द्रौपदी एवं शत्रुघ्न के साथ लंका-प्रस्थान की

इच्छुक उर्मिला के दर्शन कीजिए।" (गुप्त जी की काव्य साधना, पृ० १७५)

साकेत एक चरित्र-प्रधान काव्य है। अतएव प्रमुख पात्र अथवा नायक का चरित्र अन्य पात्रों के बीच में विकसित होना चाहिए, साथ ही अन्य पात्र घात-प्रतिघात द्वारा मुख्य पात्र के चरित्र पर प्रभाव डालें। साकेत में भी उर्मिला का चरित्र लक्ष्मण, राम, सीता, भरत, कैकेयी आदि के बीच विकसित होता है। ये सभी पात्र प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उर्मिला के चरित्र-विकास में सहायक होते हैं।

साकेत में राम-वन-गमन एक विशेष घटना है, जिससे उर्मिला का गहन सम्बन्ध रहा है। राम वन जाते हैं, सीता को वन में भी गार्हस्थ्य प्राप्त होता है और लक्ष्मण को भाई की सेवा का अवसर मिलता है। उर्मिला आज राज-भवन में रह कर भी पति के साहचर्य से वंचित हो गयी है। उसकी विपन्नावस्था का संकेत राम एवं सीता—दोनों ही करते हैं। सीता कहती है—

'आज भाग्य है जो मेरा, वह भी हुआ न हा तेरा'

तथा राम लक्ष्मण को ही वास्तविक वनवासी कहते हैं। मांडवी और श्रुतकीर्ति अपने पतियों के साथ हैं। माँ ने भी ठीक ही कहा था—'मिला न वन ही न गेह ही तुझको।' दशरथ भी उसके प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं—'तू रघु-कुल की असहाय वधू।' कैकेयी भी उसकी इस स्थिति से प्रभावित होती है—'आ मेरी सबसे अधिक दुखिनी आ जा।' माडवी उसकी विषादमयी अवस्था का वर्णन करती है—'किन्तु बहन के बहने वाले आँसू भी सूखे हैं आज।' तात्पर्य यह कि साकेत की सभी घटनाएँ उर्मिला के चरित्र की ओर विकासोन्मुख होने के लिए अनेक मोड खाती है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि कथा-योजना, चारित्रिक विकास एवं फल की दृष्टि से केवल उर्मिला ही साकेत में नायकत्व की अधिकारिणी है। उर्मिला के जीवन में यद्यपि उदात्त संयमपूर्ण चारित्रिक विशेषताओं में शिथिलता है, किन्तु तात्विक दृष्टि से उसी का नायकत्व शास्त्र-सम्मत है। उसके नायकत्व में सन्देह की कतई गुजाइश नहीं। सचमुच कर्त्तव्यपरायणा उर्मिला साकेत की नायिका है।

साकेत : पात्रों का शील-निरूपण

स्वभाव की समुज्ज्वलता और स्वाभाविक सुकुमारता को 'शील' कहते है। यह धर्म का उत्कृष्टतम रूप तो है ही, हृदय की स्थायी स्थिति भी है। प्रयत्न करके भी शीलवान् पुरुष अपने स्वभावगत शील का त्याग नही कर सकता। विरोधी के दुराचार और अत्याचार से भी जिसमें विकार नही आ सके, मानवता का वही सर्वोच्च गुण शील कहलाता है।

व्यक्तित्व की विधायक विभूतियों को काव्य और कला की दृष्टि से तीन प्रमुख स्तम्भो में वर्गीकृत किया जा सकता है—शील, शक्ति और सौन्दर्य। शील, शक्ति और सौन्दर्य को यदि एक ही तत्त्व में देखा जाय, तो उसे 'प्रकाश' कह सकते हैं। मानसिक विभूतियों का प्रकाश शील है, आत्मिक विभूतियो की शक्ति और कायिक विभूतियों का सौन्दर्य। 'प्रकाश' सौन्दर्य भी है शील भी और शक्ति भी। वह आँखो को सुख देता है, इसलिए सौन्दर्य है, मन को आह्लादित करता है, इसलिए शील है और आत्मा को आलोकित करता है, इसलिए शक्ति है। इन तीनो विभूतियों की समन्वित अतीन्द्रिय अनुभूति ही आनन्द है। ये ही सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् है।

शील व्यक्ति के जीवन का दर्शन नही, काव्य है। व्यक्ति का शील आधारतः मनुष्य की हृदय-व्यवस्था का वह मानचित्र है, जिसका निर्माण एक अचल प्रतिष्ठा नही, प्रतिक्षण चंचल गति-क्रम है। यदि ज्ञान से मनुष्य के शील का सीधा या उलटा लगाव नही, तो कोरी शारीरिक क्रिया का भी शील से कोई अटूट या अनन्य सम्बन्ध नही है। जहाँ हाव के पीछे भाव नही, वहाँ शील नही। क्रियामात्र शील नही, जबतक वह प्रतिक्रिया न हो। भोजन करना या साँस लेना या कोरा रास्ता चलना क्रिया मात्र है। दुर्योधन के घर का मेवा छोड़ विदुर का शाक खाना, अपनी प्रेयसी की साँस में साँस मिलाना और चित्रकूट तीर्थ को इस भावना से जाना कि शायद राम के चरण-चिह्न नसीब हो जायँ; शील के अन्तर्गत आएगा।

वह शील जो व्यक्त नहीं होता, जो मूक-मृत वेदना, कण्ठावरुद्ध सहानुभूति और हास्य से स्वगत का भ्रूण मात्र बनकर रह जाता है, काव्य की या जीवन की दृष्टि से अत्यल्प मूल्य रखता है। जो शील जितना ही अधिक कर्मोन्मुख

होगा, वह उतना ही सुस्पष्ट और प्राण-सौरभ-सम्पन्न होगा ।

शील की रचना सौष्ठव की पहली माँग है स्पष्ट अभिव्यक्ति कुछ 'सोऽहम्' की खास गायत्री नहीं । किसी पड़ोसी के घर को जलते हुए कोई जड़-धीर यदि जम्हाई लेते-लेते सो जाए फिर उठे और फिर सो जाए और उसके मन में न करुणा से क्लेश हो और न द्वेष से आह्लाद ही हो तो उसे हम हृदयहीन की संज्ञा देंगे । ये न जीवित है, न मृत, ये शील की स्तब्ध-शिला है और गीता के स्थित-प्रज्ञ की सौतेली सन्तान ।

शीलवान् की सत्ता देश मे स्थित ही नही, काल की परिवर्तनशील की सहधर्मिणी होनी चाहिए । शील की अभिव्यक्ति जीवन की एक घटना है, व्याकरण की संज्ञा नही, आत्मदान है, गुण या प्रवृत्ति की भाववाचक सत्ता नही । शील का स्खलन परिस्थिति-सापेक्ष रसोद्रेक है, स्थिर या स्थायी ताप-तुषार नही । शील वृत्तियो का प्रबन्ध-मुक्तक है । शील का परिचय परिस्थिति के पश्चात् होता है, पूर्व नही ।

शील आचरण में मूर्त्तिमान होता है । वह समाज की उन मर्यादाओं का स्थापन करता है, जिनसे धर्म का स्वरूप निर्मित होता है । महापुरुषों का जीवन ऐसे ही शील से अनुप्राणित होता है । वह सामान्य जनता के लिए धर्म बन जाता है और उसके अनुकरण, अनुसरण, अनुकीर्तन एवं चिन्तन से सात्विक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं । 'रामायण' एवं 'रामचरितमानस' की परम्परा में 'साकेत' भी कालजयी महाकाव्य है जिसमें धर्म और कवित्व के उच्चतम शिखर लक्षित होते है ।

'शील-निरूपण' से तात्पर्य कवि द्वारा अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण से है । व्यक्ति के चरित्र का निर्माण जीवन की विभिन्न परिस्थितियो में होता है । जिस कथाकाव्य में जितनी परिस्थितियों की सृष्टि सहज रूप में होती है । उसमें चरित्र के विभिन्न पक्षो का उतना ही स्वस्थ उभार हमारे सामने आता है ।

पात्रों से चरित्रो का चित्रण करते समय कवि स्वयं अपने दृष्टिकोणो, उद्देश्यों और विभिन्न प्रकार की आन्तरिक एवं बाह्य घटनाओं से प्रभावित होता रहता है । कवि की महत्ता की यह एक सशक्त और निष्पक्ष कसौटी है, जो उसकी दुर्बलताओं और सबलताओ को हमारे सामने उभारकर रख देती है ।

चरित्र-चित्रण महाकाव्य का एक प्रमुख तत्त्व है । महाकाव्य में कथानक का सम्बन्ध नायक के अतिरिक्त अन्य कई पात्रों से रहता है । इन पात्रों की चरित्रगत सबलताओं और दुर्बलताओं का अंकन ही चरित्र-चित्रण कहलाता है । महाकाव्य में भले-बुरे और विभिन्न प्रकृति के अनेक पात्रों की सृष्टि की

जाती है। महाकाव्य में भले-बुरे, ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, विद्वान-मूर्ख, स्वार्थी-परोपकारी आदि अनेक प्रकार के व्यक्ति मानव-जाति का निर्माण करते है और महाकाव्य में मानव-जीवन की सर्वाङ्गीण अभिव्यक्ति मुख्यतया इन विविध पात्रो के चरित्र-चित्रण द्वारा संभव हो सकती है। महाकाव्य के विविध पात्रो का चरित्रांकन, स्वाभाविक, मनोवैज्ञानिक आदर्शोन्मुख होना चाहिए। प्राचीन भारतीय महाकाव्यों में चरित्र-चित्रण में आदर्श की प्रधानता रहती थी, किन्तु आधुनिक महाकाव्यों में यथार्थ की ओर कवियों का ध्यान अधिक दिखाई देता है।

'साकेत' एक चरित्र-प्रधान महाकाव्य है। उसमें सबसे अधिक महत्त्वशाली चरित्र उर्मिला का है। दशरथ, राम, लक्ष्मण, भरत, सीता कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा आदि पात्रों का चरित्र-चित्रण उर्मिला के चरित्र के विकास मे सहायक सिद्ध होता है। साकेत की विविध घटनाएँ भी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप मे उर्मिला के चरित्र के विकास में ही सहयोग देती है। साकेत के सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक तथा मनोवैज्ञानिक ढग से हुआ है। केवल राम को छोड़कर साकेत के सारे पात्र मानवीय है—वे मानवीय दुर्बलताओं और विशेषताओ को लिए हुए हैं। विविध परिस्थितियों में पात्रों की मनोवृत्तियों और मानसिक संघर्षों का विश्लेषण साकेत में बहुत अच्छा हुआ है। साकेत के अधिकाश पात्र परम्परागत होते हुए भी अपनी विशेषताएँ लिए हुए है।

चरित्र-चित्रण में मैथिलीशरण गुप्त जी के समक्ष बड़ी जटिल समस्या थी। उनके सभी पात्र पूर्वकल्पित थे अर्थात् अपने गुण-अवगुणो के लिए चिरकाल से प्रसिद्ध थे। यदि कवि उन्हे ज्यों का त्यों स्वीकार करता है तो मौलिकता की हत्या का प्रश्न सामने आता है और यदि पात्रों को छोड़ता हैं तो ऐतिहासिकता एवं लोक-प्रसिद्धि पर आघात होता है। ऐसी दशा में समाधान है केवल पुनस्सृजन एवं पुनस्स्पर्श। गुप्त जी इन्ही का आश्रय ग्रहण करते है। पुनर्निर्माण के अतिरिक्त वे चरित्र-चित्रण में स्वाभाविकता, सहज मानवीयता, वरेण्य पात्रों की गौरव-रक्षा एवं प्रमुख पात्रो की धीरोदात्तता आदि का भी विशेष ध्यान रखते है।

परम्परागत ऐतिहासिक चरित्रों में मैथिलीशरण प्रायः परिवर्तन नहीं करते, फिर भी पुनस्स्पर्श अवश्य करते है। राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, उर्मिला, माण्डवी, कैकेयी आदि गुप्त जी के प्रमुख पात्र है। इनमे से उर्मिला, कैकेयी, माण्डवी के अतिरिक्त शेष सभी पात्र परम्परानुमोदित है तथापि पुनस्स्पर्श से पर्याप्त अन्तर आ गया है। वाल्मीकि के राम महामानव है, तुलसी के आराध्य नर होते हुए भी नारायण है किन्तु गुप्त जी के राम महामानव के साथ-साथ भगवान भी है—

राम तुम मानव हो ? ईश्वर नही हो क्या ? वे कबीर के समान साहब का सन्देश नही लाये वरन् 'इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने' आए है। साकेत के राम एक आदर्श महापुरुष है। उनकी पितृ-भक्ति उनका मातृ-प्रेम एवं उनकी कर्त्तव्य-परायणता सभी आदर्श रूप लिए हुए है। उनके चरित्र में त्याग, क्षमावृत्ति, गम्भीरता और नम्रता का प्राधान्य है। परिस्थितियाँ उनके आदर्श को आघात नही पहुँचा सकती। वन-गमन का निश्चय कर लेने पर माता कौशल्या के समक्ष वे अपना मस्तक गर्व से ऊँचा किए इन शब्दों मे अपने अद्भुत त्याग का परिचय देते है—

अबल तुम्हारा राम नही,
विधि भी उस पर वाम नही।
वृथा क्षोभ का काम नहीं,
धर्म बड़ा धन-धाम नही। (सर्ग ४)

राम के हृदय में कैकेयी और भरत के प्रति भी अगाध प्रेम है। विषम परि-स्थितियो में भी उनके हृदय में कैकेयी के प्रति क्रोध तथा भरत के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न नही होती। सुख-दुःख, हर्ष-शोक को राम समान रूप से स्वीकार करते है। क्या अभिषेक और क्या वनगमन—सब में एक जैसी मनोवृत्ति रखते है—

राम-भाव अभिषेक-समय जैसा रहा,
वन जाते भी सहज सौम्य वैसा रहा। (सर्ग ५)

राम के चरित्राकन मे गुप्त जी ने विशेषकर राम के परम्परागत आदर्श स्वरूप को ग्रहण किया है फिर भी उनके चरित्र में देशप्रेम, प्रजाहित-चिन्तन आदि मौलिक भावनाएँ भी यत्र-तत्र व्यक्त की गयी है। अयोध्या से वन को विदा होते समय जन्मभूमि के प्रति उनका प्रेम इन शब्दो में प्रस्फुटित हुआ है—

जन्मभूमि ले प्रणति और प्रस्थान दे,
हमको गौरव तथा निज मान दे। (सर्ग ५)

निष्कर्षतः हम कह सकते है कि साकेत के राम ईश्वर होते हुए भी हमारे अधिक निकट है।

लक्ष्मण का चरित्र एक कर्त्तव्य-परायण वीर योद्धा के रूप में अकित हुआ है। साकेत के आरम्भ में उर्मिला के साथ हास्यपूर्ण वार्तालाप में लक्ष्मण के हृदय की भावुकता और कोमलता व्यक्त हुई है। वे उग्र प्रकृति के क्षत्रिय वीर होते हुए भी एक सुकुमारचेता प्रणयी हैं। अपनी प्रिया उर्मिला के समक्ष भी अपने आपको राम का एक सैनिक मात्र समझने में वे अपना गौरव समझते हैं—

भावती मैं भार लूं किस काम का ?
एक सैनिक-मात्र लक्ष्मण राम का। (सर्ग १)

साकेत के लक्ष्मण मानस के लक्ष्मण की अपेक्षा कुछ अधिक उग्र स्वभाव वाले प्रतीत होते है। यदि उनकी कुछ पंक्तियो—

खड़ी है मां बनी जो नागिनी यह,
अनार्या की जनी हतभागिनी यह।
अभी विषदन्त इसके तोड़ दूँगा,
न रोको तुम तभी मैं शान्त हूँगा। (सर्ग ३)

को प्रकरण से पृथक् करके देखा जाय तो कदाचित् उनके प्रति अश्रद्धा ही उत्पन्न होगी। किन्तु ये विषमय विषम वचन भी प्रसंग-प्राप्त है। यहाँ पर निश्चित रूप से पाठक का लक्ष्मण से साधारणीकरण हो जाता है।

साकेत के अन्त में लक्ष्मण को हम एक आदर्श पति के रूप में देखते है। राम-सीता की सेवा में निरत होकर लक्ष्मण ने जो साधना की है, उससे उनका पत्नी-प्रेम आदर्श रूप ग्रहण कर लेता है। चौदह वर्ष की कठिन तपस्या के बाद उन्होने उर्मिला के योग्य पति बनने की क्षमता प्राप्त की है। सीता के विरह में राम को रोते देख और हनुमान से लंका में सीता की विरह-व्यथा की कथा सुनकर लक्ष्मण को वास्तव में उर्मिला के त्यागमय जीवन का महत्त्व ज्ञात होता है—

मिला उसी दिन किन्तु तुम्हे मै खाया खोया,
जिस दिन आर्या बिना आर्य का मन था रोया।
पूर्णरूप से सुनो, तुम्हें मैने कब पाया,
जब आर्या का हनुमान ने विरह सुनाया। (सर्ग १२)

पात्रों के पुनर्निर्माण में कवि की दृष्टि स्वाभाविकता एवं सगति की ओर भा रही है। इस युग में चरित्रगत अस्वाभाविकता एवं असंगति ही कवि को सर्वाधिक अखरती है। गुप्त जी उनका विवेक-सम्मत परिहार करते है। उदाहरणार्थ रामायणों में लक्ष्मण को एक ओर तो अत्यन्त क्रोधी और कर्मठ तथा दूसरी ओर राम-सोता के समक्ष निर्जीव एव निष्क्रिय कठपुतला-सा प्रदर्शित किया गया है। साकेतकार सर्वप्रथम इस असंगति को पहचानता है। राम के सम्मुख नतशिर तो साकेत के लक्ष्मण भी है किन्तु वे अवसर आने पर—'प्रतिषेध आपका भी न सुनूंगा रण मे'—की घोषणा
यह उक्ति लक्ष्मण के चरित्र के अनुरूप ही है और
करती है।

भरत एक आदर्श भ्राता है। राम के प्रति उनके हृदय में अविचल भक्ति और श्रद्धा है। ननिहाल से लौटने पर अयोध्या में दशरथ-मरण और राम के वन-गमन की दुखद सूचना पाकर वे स्तब्ध हो जाते है। माता कैकेयी ने उनके लिए राज्य प्राप्त करने की इच्छा से यह सब कुछ किया है, यह जानकर साधु-स्वभाव भरत का क्रोध भड़क उठता है—

धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह,
खा गया जो भून कर पति-देह।
ग्रास करके अब मुझे हो तृप्त,
और नाचे निज दुराशय-दृप्त। (सर्ग ७)

भरत को माता कौशल्या की दृष्टि मे गिर जाने की आशंका है। उनका विक्षुब्ध हृदय माता कौशल्या का आश्रय पाने के लिए छटपटा रहा है। कौशल्या के इन शब्दों में भरत के उदात्त चरित्र का सजीव चित्र अंकित हुआ है—

वत्स रे आ जा, जुड़ा यह अंक,
भानुकुल के निष्कलंक मयक?
मिल गया मेरा मुझे तू राम,
तू वही है भिन्न केवल नाम। (सर्ग ७)

चित्रकूट की सभा में राम के यह पूछने पर 'हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना' भरत के हृदय का क्षोभ इन व्यंग्य-भरे शब्दों में प्रकट होता है—

हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी?
मिल गया अकंटक राज्य उसे जब, तब भी?
पाया तुमने तरुतले अरण्य-बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा? (सर्ग ८)

भरत के ये मर्मभेदी शब्द उनके हृदय की तीव्र वेदना और आत्मग्लानि को व्यक्त करते हैं। राम के इन शब्दों में शील-समुच्चय भरत के चरित्र की गरिमा झलकती है—

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको?
जनकर जननी ही जान न पाई जिसको? (सर्ग ८)

दशरथ का चरित्र साकेत में एक ममतालु पिता के रूप में अंकित हुआ है। उनके हृदय में अपने पुत्रों और विशेषकर ज्येष्ठ पुत्र राम के लिए अगाध प्रेम है। वृद्धावस्था में सन्तति-लाभ होने के कारण उनके हृदय में अपनी सन्तान के लिए मोह का होना स्वाभाविक ही है। राम के राज्याभिषेक की तैयारी के समय उनका हृदय हर्ष से फूला नहीं समाता। पर अचानक कैकेयी के पूर्व-

प्रतिश्रुत वरों—राम का वनवास और भरत का राज्याभिषेक—की याचना करने पर दशरथ की सारी आशाओं पर पानी फिर जाता है। साकेत मे गुप्त जी ने दशरथ के मोहाभिभूत हृदय का चित्रण मनोवैज्ञानिक ढग से किया है पर एक वीर राजा के रूप में उनके चरित्र में धैर्य, साहस और वीरता आदि की अभिव्यक्ति नही हो पाई है।

दशरथ के चरित्र में भरत की अनुपस्थिति-विषयक खिन्नता तथा भरत के ननिहाल से न बुलाए जाने के कारणों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। साकेत के दशरथ कैकेयी के वर माँगने से पहले स्वयं उसे अपने पूर्व-प्रतिश्रुत दो वरों की याद दिलाते है—

माँगना हो तुमको जो आज
माँग लो, करो न कोप, न लाज।
तुम्हे पहले ही दो वरदान,
प्राप्य है, फिर भी क्यों यह मान ? (सर्ग २)

दशरथ स्पष्ट शब्दो में न तो राम को वन-गमन की आज्ञा दे सकते है और न सत्य से विचलित होना ही उचित समझते है। सत्य पालन की इच्छा और पुत्र-प्रेम के सघर्ष से विह्वल होकर दशरथ एक ओर लक्ष्मण से अपने को बन्दी बनाकर राम के अभिषेक का कार्य सम्पन्न करने की इच्छा प्रकट करते है—

तदपि सत्पुत्र हो तुम शूर मेरे,
करो सब दुःख लक्ष्मण दूर मेरे।
मुझे बन्दी बनाकर वीरता से,
करो अभिषेक साधन धीरता से। (सर्ग ३)

तथा दूसरी ओर वे राम से अपना आदेश न मानने का अनुरोध करते है—

सुनो, हे राम तुम भी धर्म धारो,
पिता को मृत्यु के मुँह से उबारो।
न मानो आज तुम आदेश मेरा,
प्रबल उससे नहीं क्या क्लेश मेरा ? (सर्ग ३)

इस प्रकार साकेत में दशरथ का चरित्र मोह की अतिशयता से आच्छन्न है। राम के वन-गमन पर उनका विलाप और विह्वलता उनके मोहावृत हृदय की दुर्बलता को प्रकट करते है।

दशरथ का चरित्र मनोवैज्ञानिकता लिए हुए है, पर दानव-भय-हारी राजा के गुणों की अभिव्यक्ति उसमें नहीं हो पायी है। साकेत में दशरथ के पितृत्व की रक्षा हुई है किन्तु उनका नृपत्व नष्ट हो गया है।

कैकेयी के चरित्र-चित्रण में गुप्त जी को सबसे अधिक सफलता मिली है। उसके चरित्र मे विविध भावों का उत्थान और पतन सुन्दर मनोवैज्ञानिक ढंग से दिखाया गया है। साकेत के द्वितीय सर्ग में कैकेयी के चरित्र का उदात्त रूप हमारे सामने आता है। राम के राज्याभिषेक के समय उसको उतनी ही प्रसन्नता है जितनी राम-माता कौशल्या को। कैकेयी राम और भरत में कोई भेद नही देखती। मन्थरा कैकेयी के सरल हृदय में सौतिया-डाह उकसाना चाहती है किन्तु आरम्भ में मन्थरा की दाल नही गलती। कैकेयी इन शब्दो मे उसे फटकारती है—

न समझी कैकेयी वह बात,
कहा उसने—यह क्या उत्पात ?
वचन क्यों कहती है तू वाम ?
नही क्या मेरा बेटा राम ? (सर्ग २)

परन्तु अन्त में कैकेयी के ममतापूर्ण मातृ-हृदय मे मन्थरा के ये शब्द विष-दिग्ध बाण की तरह तीव्र आघात पहुँचाते है—

भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह ? (सर्ग २)

कैकेयी मानवी माता है, स्वर्ग की देवी नहीं। वह अपने प्यारे पुत्र भरत के लिए सब कुछ कर सकती है। मन्थरा के वचन-वाणों से विद्ध होकर उसका सरल हृदय कठोर रूप धारण कर लेता है। पुत्र के प्रति होते हुए अन्याय को देखकर उसकी मनोदशा बदल जाती है और उसके हृदय में प्रतिशोध की भावना जाग्रत हो उठती है—

किन्तु चाहे जो कुछ हो जाय,
सहूँगी कभी न यह अन्याय।
करूँगी मैं उसका प्रतिकार,
पलट जावे चाहे संसार। (सर्ग २)

कैकेयी का स्नेह-भरा मातृ-हृदय कठिन यातनाओं को सहकर भी भरत को सुखी देखने के लिए तड़पने लगता है। उसके हृदय की स्वाभाविक कोमलता कठोरता में बदल जाती है परन्तु यह कठोरता स्थायी रूप नही ग्रहण कर पाती। दशरथ की मृत्यु और प्रिय पुत्र भरत की विरक्तिपूर्ण कठोर वाणी की चोट से कैकेयी का यह कठोर रूप पुनः कोमल हो जाता है।

ऊँची आशाएँ लेकर वह जिस भरत को राज्यसिंहासन पर बैठा देखना चाहती थी, उसी की भर्त्सना पाकर और राज्य के प्रति उसका उपेक्षा-भाव देखकर

उसके हृदय को गहरी चोट पहुँचती है। उसके हृदय में एकदम निराशा, ग्लानि और पश्चात्ताप का उदय हो जाता है। चित्रकूट में वह राम के सामने अपना अपराध स्वीकार करती है। पश्चात्ताप की आग में वह अपने हृदय को परिष्कृत कर लेती है।

कैकेयी के हृदय का स्वार्थ औदार्य में, ममता दूसरो के प्रति सहानुभूति में, अभिमान नम्रता में और प्रतिहिसा आत्मग्लानि मे बदल जाती है। साकेत में कैकेयी का चरित्र वाल्मीकि-रामायण तथा मानस की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिकता और स्वाभाविकता लिए हुए है। गुप्त जी ने युग-युग से कलकिता कैकेयी को एक भव्य माता के रूप में अकित किया है। चित्रकूट की सारी सभा भी मुक्त-कंठ से कैकेयी की सराहना इन शब्दों में करती है—

पागल सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई—
सौ बार घन्य वह एक लाल की माई। (सर्ग ८)

सती-शिरोमणि **उर्मिला** साकेत की नायिका है। वह रघुकुल की असहाय बहू, मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्र की अनुजवधू, भ्रातृभक्त लक्ष्मण की पत्नी, ज्ञानी जनक की पुत्री और पतिप्राणा सीता की छोटी बहन है। उसका हृदय त्याग और विशुद्ध प्रेम से परिपूर्ण है। साकेत के आरंभ में उर्मिला की आकृति का मनोरम चित्र कवि ने इन शब्दो में अकित किया है—

यह सजीव सुवर्ण की प्रतिमा नई,
आप विधि के हाथ में ढाली गई।
कनक-लतिका भी कमल-सी कोमला,
धन्य है उस कल्प-शिल्पी की कला। (सर्ग १)

उर्मिला इस धरती पर खिला हुआ एक स्वर्गीय सुमन है, जो अपने शील-सौरभ से सारे संसार को सुरभित करता है—

स्वर्ग का यह सुमन धरती पर खिला,
नाम है उचित ही 'उर्मिला'।
शील-सौरभ की तरंगें आ रही,
दिव्य-भाव भवाब्धि में है ला रही। (सर्ग १)

राम के शब्दों में उर्मिला साकेत में रह कर भी वनवासिनी बन जाती है—

लक्ष्मण, तुम हो तपस्पृही मैं वन में भी रहा गृही।
वनवासी, हे निर्मोही, हुए वस्तुतः तुम दो ही॥
(सर्ग ४)

उर्मिला अपने प्रेम से कर्त्तव्य को बड़ा समझती है वह अपने प्रिय के कर्त्तव्य-पथ

में बाधा न डालकर उनके भ्रातृ-प्रेम के आदर्श को गौरवान्वित करती है—

है प्रेम स्वयं कर्त्तव्य बड़ा, जो खीच रहा है तुम्हे खड़ा।
यह भ्रातृ-स्नेह ऊना हो, लोगों के लिए नमूना हो।
(सर्ग ६)

वन में राम और सीता की सेवा मे निरत लक्ष्मण यदि उर्मिला की स्मृति अपने हृदय में बनाए रखे तो वह अपने आप को भाग्यवती समझेगी—

आराध्य-युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पा चुकी सभी। (सर्ग ६)

प्रिय-विरह में उर्मिला की मुख-कान्ति पीली पड़ जाती है, उसका शरीर कृश हो जाता है पर उसका प्रेम, त्याग, विश्वास तथा धैर्य और भी दृढता प्राप्त कर लेते है। चित्रकूट में सीता के चातुर्य से उर्मिला और लक्ष्मण का क्षणिक मिलन होता है। इस मिलन के अवसर पर उर्मिला की विरहजनित कृशता को देख कर लक्ष्मण स्तब्ध रह जाते है, पर उर्मिला इस विषम परिस्थिति में भी अपने कर्त्तव्य को नही भूलती। वह कहती है—

मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी,
मैं बाँध न लूँगी तुम्हे, तजो भय भारी। (सर्ग ८)

साकेत के नवम सर्ग में उर्मिला एक विरहिणी नायिका के रूप में हमारे सामने आती है। उसका प्रेम यहाँ विरह की आँच में तपकर निर्मल कुंदन रूप धारण कर लेता है। उसका विरह संयत और मर्यादा के अन्दर है। उसमें हृदय की सहिष्णुता, उदारता और कोमलता अच्छी तरह व्यक्त हुई है।

साकेत के अंत में उर्मिला के चरित्र का उज्ज्वलतम रूप हमारे सामने आता है। उसका प्रेम यहाँ परिष्कृत और गम्भीर रूप धारण कर लेता है। चौदह वर्ष की अखंड तपस्या के पश्चात् अपने प्रियतम को पाकर उर्मिला उनके हृदय में अचल आसन प्राप्त कर लेती है और अपने आडम्बर-रहित प्रकृत रूप से ही उन्हें प्रभावित करती है—

आँखों मे ही नही अभी तक तुम थी मानो,
अन्तस्थल में आज अचल निज आसन जानो।

वस्तुतः उर्मिला के चरित्र में विशुद्ध प्रेम, त्याग, दैन्य साधना, सहनशीलता और कर्त्तव्यनिष्ठा आदि का अत्यंत सुन्दर विकास हुआ है।

माण्डवी साकेत के सन्त भरत की पत्नी है। उसका चरित्र साकेतकार की निजी सृष्टि है। साकेत के एकादश सर्ग में हम माण्डवी को अपने तपस्वी पति की सेवा में निरत देखते है। गुप्त जी ने उसका परिचय इन शब्दों में दिया है—

> चार चूडियाँ थी हाथों में, माथे पर सिन्दूरी बिन्दु,
> पीताम्बर पहने थी सुमुखी, कहाँ असित नभ का वह इन्दु।
> वह सोने का थाल लिए थी, उस पर पत्तल छाई थी,
> अपने प्रभु के लिए पुजारिन फलाहार सज लाई थी।

माण्डवी संयोगिनी होकर भी वियोगिनी है। साकेत के राजभवन में रहती हुई भी तपस्विनी बनी है। उसके चरित्र में हर्ष और विषाद, अनुराग और विराग, आशा और निराशा, चचलता और गभीरता का अद्‌भुत सामंजस्य दिखाया गया है। सीता और उर्मिला की अपेक्षा उसकी स्थिति अधिक दयनीय है। सीता वनवासिनी होती हुई भी पति का सान्निध्य पाकर पर्णकुटी मे ही राजभवन का सुख प्राप्त करती है। उर्मिला भी लक्ष्मण के विरह में आँसू बहाकर विरह-व्यथा का भार हल्का कर लेती है। किन्तु माण्डवी भरत की सहचरी बनकर भी चुप-चाप तीव्र वेदना सहती है। उसे मुक्त-कंठ से रोने और आँसू बहाने का अवसर भी सुलभ नही हुआ।

प्रिय पति के दर्शन कर उसके हृदय में अनेक उमंगे उठती है, पर उनका आत्म-ग्लानि से परिपूर्ण वैराग्य उसकी सारी उमगों को शान्त कर देता है। माण्डवी का हृदय नारी-सुलभ प्रेम से भरा पड़ा है, पर उसमें उद्दाम वासना का अभाव है। लालसाएँ हैं पर उनमें उच्छृंखलता नही। उसका आत्म-संयम श्लाघ्य है।

माण्डवी की साधना भरत की तपस्या से कुछ कम महत्त्वपूर्ण नही है। इस साधना ने ही उसे अपने हृदय की तीव्र वेदना को सहने की क्षमता प्रदान की है।

शील-निरूपण में कुछ विषमताएँ

मैथिलीशरण के चरित्र-चित्रण में कुछ दोष भी है। कवि उर्मिला को साकेत की नायिका बनाना चाहता है और वह इसमें सफल भी है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नही कि उसे हर जगह लाया जाय, अवांछनीय अवसरों पर भी उपस्थित कर दिया जाय, द्वादश सर्ग में वह अकस्मात् सेना के समक्ष आती है और 'पापी का सोना न लाने' का उपदेश देने लगती है। षष्ठ सर्ग में दशरथ-मरण के अव-सर पर भी वही सर्वाधिक रोती है—कौशल्या एवं सुमित्रा से भी अधिक।

कितनी विचित्र बात है। वास्तव में कवि ने उर्मिला को अधिक प्रमुखता देने के प्रयत्न में उचित से अधिक मुखर बना दिया है।

कई पात्रों के चरित्र उलझ भी गए है—उनमें मानवीय और अतिमानवीय गुणों का सम्मिश्रण है। परिणामतः उन पात्रों के चरित्र न तो सर्वथा लौकिक है और न ही बिल्कुल अलौकिक। राम मानव के रूप में चित्रित है, इसलिए मानव-सुलभ दुर्बलताएँ भी उनमें है। किन्तु कवि उन्हे स्पष्ट रूप में भगवान मानता है। मैथिलीशरण राम को निर्गुण का सगुण अवतार मानते है। वे स्वयं भी अपने देवत्व की घोषणा करते है—

> जो नाम मात्र ही स्मरण मदीय करेंगे,
> वे भी भवसागर बिना प्रयास तरेंगे।

सीता के चरित्र में कवि ने कुछ अधिक मानवीय रंग भरा है। पुत्र-वधू के रूप मे वे कौशल्या की पूजा-सामग्री एकत्रित कर रही है और 'माँ! क्या लाऊँ ?' कह-कह कर आवश्यक वस्तुएँ लाती है। कैसा सहज पार्थिव चित्र है! पर सीता के जिज्ञासा प्रकट करने पर गुप्त जी राम तथा सीता दोनों की दिव्यता प्रदर्शित करते हैं।

इस प्रकार कुछ पात्रों के चरित्र में दिव्य और मानवीय गुणों की उलझन है। वस्तुतः इस वैज्ञानिक और बौद्धिक युग के कवि को अमानवीयता से कोई अनुराग नहीं है। इसीलिए उसने यथासंभव मानवीयता की रक्षा का प्रयास किया है। किन्तु उनके हृदयस्थ भक्त को राम, सीता आदि में अपार श्रद्धा है। इसी कारण इन पात्रों में देवत्व की स्थापना होती है। युग-चेतना और कवि-हृदय के वैषम्य के प्रभाव-स्वरूप ही राम और सीता के चरित्रों में विषमता है। उनमें लौकिकता और अलौकिकता का विचित्र संश्लेष है।

साकेत की नारी-भावना

मानव जाति ने बहुत पूर्व ही परिवार की कल्पना कर ली थी और स्त्री-पुरुष के विविध पारिवारिक सम्बन्ध तथा अन्य आवश्यक व्यवस्थाएँ स्थापित कर दी थी। संसार से सभी देशो के सास्कृतिक इतिहास मे परिवार का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। भारतवर्ष की परिवार-व्यवस्था सम्बन्धी अनेक समस्याओ पर स्मृतियों के अध्ययन से प्रकाश पडता है। भारतीय परिवार, कुछ स्थानीय अपवादों को छोडकर पितृसत्तात्मक रहा है और उसमें पूर्वजों से लेकर पुत्र-पुत्रियों तक की संयुक्त सत्ता स्वीकार की जाती रही है। वह केवल एक नारी और एक पुरुष तथा उनकी सन्तान तक ही सीमित नही रहा। जीवन के चारो फल—धर्म, अर्थ काम और मोक्ष—प्राप्त करना भारतीय परिवार का अन्तिम उद्देश्य था और पितृसत्तात्मक होते हुए भी उसमें नारी का आदरपूर्ण और स्नेहपूर्ण स्थान था। स्त्री और पुरुष का सम्बन्ध अविच्छिन्न समझा जाता था। साथ ही समाज में वह पत्नी, प्रेमिका, भगिनी, कन्या, माता, वेश्या आदि विविध रूपों में देखी जाती थी।

भारतीय समाज में नारी का स्थान सदैव एक-सा नही रहा। परिवर्तित परिस्थितियों और वातावरण के अनुसार उसकी स्थिति में भी अनेक परिवर्तन हुए। मुसलमानी आक्रमण से पूर्व नारी की जो स्थिति थी वह बाद को बनी न रह सकी। धर्मशास्त्रों ने भी यथावसर उसके जीवन के विभिन्न पहलुओं में से कभी एक पर तो कभी दूसरे पर बल दिया और अंततोगत्वा नारी का वह रूप हमारे सामने आया जिसे पौराणिकता के भार से दबा हुआ रूप कहा जा सकता है। भारतीय इतिहास के मध्य युग में अन्य रूपों की अपेक्षा उसका विलास-पुत्तलिका वाला रूप अधिक आकर्षक सिद्ध हुआ। सन्तों और भक्तों ने अपनी वैराग्यपूर्ण वृत्ति से प्रेरित होकर उसे 'सर्पिणी' और 'भव-बंधन' का मुख्य कारण बताया। तुलसी जैसे समन्वयात्मक दृष्टि-सम्पन्न कवि ने उसे माता और जीवन की सच्ची सहधर्मिणी के रूप में भी चित्रित किया।

सच तो यह है कि भारतवर्ष में नारी की निन्दा और प्रशंसा दोनों बातें

पाई जाती है। यहाँ यदि एक ओर सन्तों ने उसे काम-स्वरूपा जानकर उसकी घोर निन्दा की है, तो दूसरी ओर भारतवर्ष में ही यह भी कहा गया है कि जहाँ स्त्रियो का आदर होता है वहाँ देवता विचरण करते है और शास्त्रकारो तथा कवियो ने उसके सतीत्व, मातृत्व, आत्मत्याग तथा बलिदान और अन्य अनेक गुणों का गान किया है। संतुलित भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार नारी का वही रूप है जो 'कामायनी' की श्रद्धा का है।

परम्परा से चली आयी विचारधारा के अनुसार नारी-चरित्र मनुष्य तो क्या देवताओं के लिए भी अज्ञेय है। संभवत. उसके चरित्र की यह अज्ञेयता ही उसके प्रति आकर्षण का एक कारण विशेष रहा है। जो ज्ञेय है, वह निन्दा-स्तुति का कारण बना, जो अज्ञेय है उसे सैद्धान्तिक तुला पर विश्वास-अविश्वास के पलडो मे तौलने का प्रयत्न चलता रहा। विचार-धाराओ के बाट बदलते रहे और कभी विश्वास का पलडा भारी तो कभी अविश्वास का। धर्म, शास्त्र, नीति, कला एवं जीवन—सभी न्यूनाधिक रूप से नारी का मूल्यांकन करते रहे पर नारी किसी परिधि-विशेष में बाँधी नही जा सकी। काल के डग हा ओछे न पड़े, त्रिकालज्ञ-दृष्टि भी भटक गई। नारी प्रश्न-चिह्न थी और बनी रही।

'धर्म, शास्त्र और नोति ने अपनो-अपनी सोमा-रेखाएँ खीची, कला ने कुछ तराशा, कुछ अंकित किया, कुछ शब्दो मे बाँधा; पर जिसके लिए यह सब कुछ हुआ था, वह जीवन ही जब बगावत करने लगा तो कला ही सर्वप्रथम जीवन के साथ बागी हुई। कला विद्रोही जीवन के साथ थी, अतः उसने समझदारी से काम लिया। उसने जीवन के विद्रोही वेग को भी समझा; धर्म, शास्त्र एवं नीति की समन्वित शक्ति को भी पहचाना। कला मध्यस्थ बनी। कला को इस मध्यस्थता ने एक बहुत बडा काम किया। उसने जीवन को विच्छिन्न होने से ही नही बचाया, विद्रोह-मंथन से प्राप्त होने वाले नवनीत को भो विस्मृति के जबड़ो से बचा लिया।

भारतीय सस्कृति एवं दर्शन में नारी को सदा ही विशिष्ट स्थान मिला है। हिन्दू धर्म-कथाओं मे अर्द्धनारीश्वर की कल्पना नारी की महत्ता तथा प्रधानता की द्योतक है। नर की सृष्टि नारी के सहयोग के बिना अपूर्ण है। अपनी सर्जन-प्रतिभा तथा कला से नारी उसे पूर्णता और अमरता प्रदान करती है। कोमल सवेदनशीला नारी, सामाजिक व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है। सभ्यता एवं सस्कृति के निर्माण मे उसने क्रियात्मक योग दिया है। उसके लोरी गाने वाले कोमल स्वर में राष्ट्रनायको को कर्त्तव्य-निर्देश देने की क्षमता है तथा नारी के ही पालना झुलाने वाले करों में विश्व पर शासन करने की शक्ति सन्निहित है।

आत्मगौरवपूर्ण माता ही बालक मे कर्त्तव्य-पालन, आत्म-सम्मान और उत्सर्ग की उदात्त भावनाओं का उन्मेष कर सकती है। अतः इस मातृ-शक्ति का अनादर देश और जाति हित के लिए घातक है।

नर की हिंसा की प्रचण्ड ज्वाला में दग्ध मानवता को ममता एवं स्निग्धता का अनुलेपन प्रदान करने वाली नारी, राष्ट्रविधायिनी जननी, आत्मोत्सर्ग की मूक प्रतिमा पत्नी उपेक्षा की पात्र नही है। सदियों से समाज तथा पुरुष के अत्याचार-चक्र में पिसती हुई, मातृत्व के गौरव के साथ अनन्त वेदना की थाती लिए, नारी की अवहेलना समीचीन नही है। प्राचीन एवं आधुनिक नारी मे बहुत अंतर है। कुसंस्कारो में पली हुई, परंपरा के बन्धनो में सीमाबद्ध, अशिक्षित नारी का दृष्टिविन्दु गृह की क्षुद्र सीमा मे ही केन्द्रित रहा है। यद्यपि इतिहास तथा साहित्य में इसके अपवाद भी हैं, पर जनसामान्य में नारी निश्चित सीमाओं, आदर्श रेखाओं पर इच्छा या अनिच्छा से चली है। उसके अशिक्षित मस्तिष्क, कुसंस्कारों से पूर्ण हृदय पर नियामकों ने आदर्श का भार लादने का प्रयास किया है। बौद्धिकता तथा तर्क-वितर्क की भावना से रहित नारी के सरल हृदय ने इन आदर्शों को अपने जीवन-पथ का ध्रुवतारा समझा। इन आदर्शो, एकपक्षीय पवित्रता तथा पातिव्रत को उसने सदा ही शिरोधार्य किया है। इनकी स्वर्णिम मोहकता में विमुग्ध हो वह द्रुतगति से चली। इन आदर्शों की उपलब्धि के प्रयास में उसे विस्मृत हो गया कि उसके पग शृङ्खलाबद्ध है, अत. यह पतित भी हुई। मानुषी शक्तियों के संघात से उसका अपकर्ष हुआ। निरीह सरल विश्वास से उसने पुरुष को आत्म-समर्पण कर दिया, तथा पति को ही परमेश्वर माना। फलतः प्राचीन नारी पुरुष के इगित पर नृत्य करने वाली काष्ठ-पुत्तलिका मात्र रह गई। उसमें चेतनता तथा व्यक्तित्व का अभाव उत्पन्न हो गया।

जीवन की प्रथम धडकन नारी की कोख से जागी है, उसके स्नेहिल संरक्षण में पोषण पाते हुए रेंगी है, घुटनो के बल सरकी है, पाँवों चलना सीखी है। जीवन उसी की स्नेहमयी छाया में तुतलाया है, हर्ष-विमोहित, अश्रु-विगलित और मोद-मुखरित हुआ है। जीवन आकर्षण और विकर्षण के क्षणो में नारी द्वारा अनुप्राणित एवं प्रभावित होता रहा है। आसक्ति ने प्रवृत्ति का एवं विरक्ति ने निवृत्ति का मार्ग अपनाते हुए भी नारी को अनिवार्य रूप में अपने सामने रखा है। एक ओर अगर उसके उज्ज्वल स्वरूप को परखा जाता रहा, वही दूसरी ओर उसके श्यामल पक्ष का प्रतिपादन होते हुए उसकी प्रभावपूर्ण सामाजिक स्थिति की अवज्ञा भी नही की गई।

नारी जीवन की तरह काव्य की भी अनिवार्यता बनकर रही है। भावानुभूति

सौन्दर्यानुभूति का माध्यम विशेष होने के कारण वह सदैव से काव्य को अनुप्राणित करती चली आयी है। महाकाव्य का यात्रा-क्षेत्र नरक्षेत्र होता है। अत: इस यात्रा क्षेत्र के मध्य नारी जहाँ सहज आकर्षण बनकर उपस्थित होती है, वहीं देशकाल से प्रभावित काव्य-दृष्टि, नारी का मूल्याकन भी करती चली आई है। समाज-शास्त्र की तरह साहित्य की रुचि भी नारी के प्रति सजग रही है क्योकि समाज का दर्पण होने के कारण, साहित्य समाज के इस अर्द्धांग की अवहेलना नही कर सकता है।

मैथिलीशरण जी की, नारियो को देखने की, दृष्टि में पुनरुत्थानवादी विचार लक्षित होता है। मैथिलीशरण जी का समय परिवर्तन एवं सुधार का था। राजनेता एवं साहित्यकार एक ही काम कर रहे थे। फलत: गुप्त जी पर भी परिवेश का प्रभाव पडना स्वाभाविक था। अन्य समस्याओ के साथ नारी-अस्तित्व की भी समस्या ज्वलन्त थी। पुराने समय में नारियाँ सारे संसार में दबाकर रखी गयी थी, प्रत्युत कहना चाहिए कि भारत में वे कुछ अधिक ही दबी हुई थी। किन्तु बुद्धिवाद के उत्थान के साथ यह बात अमान्य होने लगी कि नैतिकता के नियम पुरुषों के लिए एक और नारियों के लिए दूसरे रखे जायँ। इसमें कतई सन्देह नही कि भारतवर्ष में नरों और नारियो के लिए नैतिकता के अलग-अलग नियम थे।

वैदिक, अवैदिक, बौद्ध और जैन, कम-से-कम एक बात में समान रहे; नारियों की उपेक्षा और उन पर अत्याचार, सभी धर्मों ने किया। जब जीवन का सर्वोच्च ध्येय मोक्ष और मोक्ष का उपाय संन्यास हो गया तब समाज के स्वस्थ हट्टे-कट्टे नवयुवक भी पत्नियों को छोडकर सन्यास लेने लगे। उस विवशता भरी वेदना की तनिक कल्पना कीजिए जो उन पत्नियों के हृदय को दग्ध करती होगी, जिनके पति जीवन के सर्वोच्च ध्येय की खोज में उनका त्याग कर रहे थे। ये नारियाँ पति के साथ सन्यासिनी भी नही हो सकती थी क्योंकि उन्हें धार्मिक स्वीकृति नही थी। कोई आश्चर्य नही, कि नारी ने मन ही मन अपने को अधम मानना स्वीकार कर लिया।

नारियों के प्रति अवज्ञा सिखाने वाली इस कुत्सित परम्परा का मूल भारतवर्ष मे सामाजिक परिवर्तन ने हिलाया। इसी आन्दोलन के क्रम में भारतवासियो के भीतर यह अनुभूति जगी कि नारी निन्दा की पात्री नही, प्रत्युत पूजा की अधिकारिणी है। इसी आन्दोलन के क्रम में वह परम प्राचीन विख्यात श्लोक पुनरुज्जीवित होकर फिर से प्रचलित हो गया जो यह बताता है कि—

‘यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।’

भारतवर्ष के नारी-विषयक दृष्टिकोण में परिवर्तन कैसे-कैसे आया, यह बात पिछले सौ वर्षो की हिन्दी-कविता के अवलोकन से स्पष्ट समझ मे आती है। रीतिकालीन कवियो की नारी-भावना ने नारी को केवल काम-क्रीडा का साधन समझा था। इसमे कोई सन्देह नही कि नारी को केवल कामिनी मानने से बढकर उसकी और कोई निन्दा नही हो सकती। इसके बाद साहित्य मे नारियो के वे रूप चित्रित किये जाने लगे जो सती-साध्वी, वीर, बलिदानी और त्यागमयी नारियो के रूप थे। इसके साथ ही साहित्य मे यह विलाप भी सुनाई पडने लगा कि भारत के पुरुषो ने ही नारियो को अशिक्षित, अपाहिज और पगु बना रखा है। नारी नर की समकक्षिणी एव उसका पूरक अश है—यह अनुभूति ठीक उसके बाद ही उत्पन्न होने लगी। फलत नारी के प्रति पुरुष की उदारता और न्याय-भावना का द्वार ही उन्मुक्त हो गया। छायावाद तक आते-आते हिन्दी-साहित्य मे यह भावना जग पड़ी कि नारी नर से श्रेष्ठ है, वह पुरुष मे प्रेरणा भरने वाली शक्ति है, वह विश्व की रमणीयता में वृद्धि करने वाली किरण है—

तुम्ही हो स्पृहा, अश्रु और हास,
सृष्टि के उर की साँस;
तुम्ही इच्छाओ की अवसान,
तुम्ही स्वर्गिक आभास।
तुम्हारी सेवा मे अनजान,
हृदय है मेरा अन्तर्धान,
देवि ! माँ ! सहचरि ! प्राण।

(पंत—पल्लव)

गुप्त जी की नारी-भावना की पूरी अभिव्यक्ति साकेत, यशोधरा, द्वापर और विष्णुप्रिया में हुई है। इन काव्यो की मूल-प्रेरणा ही किसी-न-किसी नारी के प्रति कवि की एकान्त भक्ति थी। इन काव्यो की नायिका पुरुषो के वैराग्य से पीड़ित नारियाँ है। वे भारत की उन असंख्य नारियो का प्रतिनिधित्व करती है, जिनके पतियो ने उन्हे अपनी-मोक्ष सिद्धि के मार्ग की बाधा मानकर छोड़ दिया अथवा जिनका वैवाहिक जीवन इसलिए कष्टमय हो गया कि उनके पति किसी बड़े लक्ष्य की सिद्धि में जा लगे थे। इन तीनों नारियो में से उर्मिला के व्यक्तित्व को सँवारने का प्रयास कवि ने अपेक्षाकृत अधिक किया।

गुप्त जी भारतीय सस्कृति के आख्याता है। अत· उनकी नारी पूर्ण भारतीय आदर्शों की प्रतिमूर्ति होकर हमारे सामने आती है। उसका क्षेत्र घर है और आसन पुरुष का हृदय-मंदिर। इस रूप में नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व का हनन

नही हुआ। 'साकेत' के नारी पात्र अपना स्वतत्र व्यक्तित्व रखते है। सीता में पति-भक्ति की कमी नही किन्तु उनके जीवन का भी अपना उद्देश्य है। उर्मिला, माडवी और श्रुतकीर्ति सबमे अलग-अलग विशेषताएँ है। कौशल्या भी माँ है किन्तु सुमित्रा में वीरता की भावनाएँ है। कैकेयी स्वयं अपने दोष का परिहार करने में समर्थ है। 'साकेत' के नारी-पात्रो में स्वय नारीत्व ने गौरव की भावनाएँ विद्यमान है और इसके लिए वे सदैव चैतन्य है। 'साकेत' के प्रथम सर्ग में संभाषण के मध्य लक्ष्मण उर्मिला से कहते है—

धन्य जो इस योग्यता के पास हूँ,
किन्तु मै भी तो तुम्हारा दास हूँ।

उर्मिला जो उत्तर देती है उसमें शिष्टाचार के साथ नारी स्वाभिमान का भी परिचय मिलता है—

देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रखो अहो।

उर्मिला की इस उक्ति मे 'मानस' की नारी की भाँति हीन भावना नही है। गुप्त जी की नारी हीन न होकर मान-गर्विता है। वह पुरुषों के लिए बाधक नही बल्कि साधक है। स्त्री के संसर्ग से पुरुष पूर्णता प्राप्त करता है, जीवन स्वर्ग बन जाता है—

भूमि के कोटर गुहा गिरि गर्त भी
शून्यता नभ की सलिल आवर्त भी।
प्रेयसी किसके सहज संसर्ग से,
दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग से॥

'साकेत' में नारी कल्पलता के समान है जो अपने अनुराग और त्याग के फलों से जीवन को सरस और मधुर बनाती है। इस अनुराग और त्याग में कायरता या दीनता नही, यह उसका स्वाभाविक गुण है। अपने अधिकारो के लिए वह कदम उठा सकती है। सुमित्रा अपने अधिकारों की कैसी गर्वपूर्ण व्याख्या करती है—

स्वत्वों की भिक्षा कैसी,
दूर रहे इच्छा ऐसी।
पाकर वंशोचित शिक्षा,
माँगेंगी हम क्यों भिक्षा।

दाम्पत्य-जीवन की सफलता दोनो ओर के मधुर सम्बन्धों पर निर्भर है। इसके लिए दोनो ओर से समान त्याग भी अपेक्षित है। स्त्री केवल उपभोग की सामग्री

नही, वह पुरुष के अर्धभाग की अधिकारिणी है। त्याग में भी वह पुरुष के साथ है। 'साकेत' की सीता यही तर्क रखती है—

जो गौरव लेकर स्वामी,
होते हो काननगामी,
उसमें अर्द्ध भाग मेरा
करो न आज त्याग मेरा।

भारतीय नारी एक योग्य पात्र को वरण करके पूर्ण समर्पण कर निश्चित हो जाती है। पति का सुख-दुख ही उसका सुख-दुख हो जाता है। अपनी चिन्ता भूल पति की चिन्ता में व्यस्त रहती है। यदि पुरुष भी उसकी चिन्ता न करे तो कोई शिकायत नही। यह नारी का महान् त्याग है। इसकी स्वीकृति मे ही पुरुष कृतकृत्य है—

निश्चिन्त नारियाँ आत्म समर्पण करके,
स्वीकृति में ही कृतकृत्य भाव है नर के।

'साकेत' की नारी मे वात्सल्य, पतिपरायणता तथा अन्य कुटुम्बियो के प्रति गौरव पूर्ण पवित्र भावनाओ की कमी नही। उर्मिला भ्रातृ प्रेम का कितना ऊँचा आदर्श रखती है—

यह भ्रातृ स्नेह न ऊना हो,
लोगों के लिए नमूना हो।

यद्यपि गुप्त जी के भरत भी कैकेयी को उसके कृत्य पर खरी-खोटी सुनाते है किन्तु वह व्यक्तिगत है। वे पूरी नारी-जाति के लिए ऐसे भाव नही व्यक्त करते। गुप्त जी सूर्पनखा जैसी राक्षसियो के प्रति भी उदार है। कुछ स्त्रियों के निम्न कोटि की होने से नारी-जाति के गौरव में कमी नही होती। राक्षसियो में भी सुलोचनाएँ जैसी आदर्श नारियाँ है और मानवियो में भी निम्न कोटि की नारियाँ है—

'उनमे भी सुलोचनाएँ है और प्रिये हममें भी अंध।'

'साकेत' मे स्त्री कायर, डरपोक और मतिमंद होकर नही आई है। हम नारी के शौर्य रूप का भी दर्शन करते है। अयोध्या के सैनिक आह्वान पर नारियाँ पुरुषो से कहती है—

पुरुष वेष में साथ चलूँगी मै भी प्यारे,
राम-जानकी संग गये हम क्यों हो न्यारे।

उर्मिला जो प्रिय के वियोग में आँसुओ की झड़ी लगा देती है, समय पड़ने पर

अपना क्षत्राणी रूप भी प्रकट कर देती है—

आ शत्रुघ्न समीप रुकी लक्ष्मण की रानो,
प्रकट हुई ज्यों कार्तिकेय के निकट भवानी ।

गुप्त जी 'भरत खण्ड के पुरुष अभी मर नही गए है' कहकर नारी को घर-व्यवस्था में ही सलग्न रखना चाहते है । किन्तु नारी भला सुयोग को कैसे खो सकती है ? उर्मिला कहती है—

वीरो पर यह योग भला क्यो खोऊँगी मै,
अपने हाथों घाव तुम्हारे धोऊँगी मै ।

भारतीय नारियाँ सदैव से ही पुरुषो के घावों को अपनी सेवा, त्याग एव अनुराग से धोती आई है । इस रूप मे नारी की महिमा अखण्ड है और वह गौरव मण्डित होकर देवी के पद पर आसीन होती है । साकेत की नारियाँ इसी पद पर प्रतिष्ठित होने योग्य है ।

साकेत में विभिन्न शैलियों का समन्वय

आचार्यों ने स्थूल रूप से काव्यगत तीन प्रकार की शैलियों का निर्देश किया है—गीति शैली, नाटक शैली और प्रबन्ध शैली। गीति-तत्त्व मे कोमल भावना, नाटक तत्त्व में परिस्थिति चित्रण और प्रबन्ध काव्य में कथा वर्णन का प्राधान्य होता है। परन्तु अब यह धारणा सर्वमान्य नही रह गई है। वस्तुत. कोई कवि इस प्रकार की सीमाएँ बाँध कर काव्य रचना करने नही बैठता है। नाटक में भी गीत का समावेश होता है और प्रबन्ध में तो गीत और नाटक दोनो तत्त्व ओत-प्रोत ही है। इतना माना जा सकता है कि काव्य की प्रकृति का कवि की शैली पर प्रभाव अवश्य पड़ता है।

द्विवेदी-युग हिन्दी-साहित्य की सभी विधाओं की शैली के स्थापत्य का युग था। कविता-धारा में जिन-जिन कवियों का योगदान रहा उनमें मैथिलीशरण गुप्त जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। विशेषकर 'साकेत' महाकाव्य में गुप्त जी ने विभिन्न शैलियो का उद्घाटन किया है। 'साकेत' की शैली की कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है—

१. प्रवाहात्मकता

'साकेत' की शैली सर्वत्र गँठी हुई परिमार्जित तथा प्रवाहपूर्ण मिलती है। शिथिलता कही नहो है। अवसर के अनुकूल मंथरता या तीव्र आ गई है। या वैसे तो प्रथम सर्ग से द्वादश सर्ग तक कही भी इसके उदाहरण देखे जा सकते है। फिर भी कुछ प्रसंग ऐसे है जहाँ विशेष प्रवाह हो—(क) लक्ष्मण-उर्मिला का प्रेमालाप (ख) दशरथ-कैकेयी संवाद (ग) लक्ष्मण का उत्तर-प्रत्युत्तर (घ) भरत द्वारा कैकेयी की भर्त्सना (ङ) वन में राम-सीता का वार्तालाप (च) चित्रकूट प्रसंग (छ) सैन्य सजाने का उपक्रम।

२. भावानुकूलता

'साकेत' की शैली भावों का अनुसरण करने में सक्षम है। कोमल प्रसंगों में लालित्य एवं कोमलता है और कठोर प्रसंगों के समय उपयुक्त रूक्षता भी जो तद्रूप वर्णन उपस्थित करती है। सौन्दर्य-वर्णन, प्रेम की व्यंजना, उर्मिला के

विरह वर्णन मे भाव कोमल, वेदना-ध्वनन करती है तो लक्ष्मण के आवेश मे उग्र भी हो जाती है और दशरथ-मृत्यु के पश्चात् नगर-वर्णन करते समय वही विषादमय पृष्ठभूमि उपस्थित करती है। युद्ध-वर्णन मे वही प्रचण्ड द्रुतगामी हो गई है। कोमलता, स्निग्धता का उदाहरण प्रस्तुत है—

एक भी उपमा तुम्हे भाती नही
ठीक भी है, वह तुम्हे पाती नही
सजग अब इससे रहूँगा मै सदा
अनुपमा तुझको कहूँगा मै सदा
निरूपमे, पर चित्र मेरा है कहाँ ?
प्रिय तुम्हारा कौन-सा पद है यहाँ ?
अस्तु कुछ देना तुम्हे स्वीकार हो
तो तुम्हारा चित्र भी तैयार हो। (प्रथम सर्ग)

लक्ष्मण-उर्मिला प्रेमालाप कर रहे है और शैली भी उन्ही की हाँ में हाँ मिला रही है। लेकिन युद्ध प्रसग आते ही शैली मोड़ ले लेती है—

वह लंका की ओर चला चारों द्वारों में
उमड़ा प्रलय-पयोधि घुमड़ सौ-सौ ज्वारों में
चौडे-चौड़े चार-वक्ष से लंका-गढ के
तोडे द्वार कपाट कटक ने बढ के, चढ़ के।
दल बादल भिड गए, धरा धँस चली धमक से
भडक उठा क्षय कड़क तड़क से, चमक-दमक से। (द्वादश सर्ग)

इसी प्रकार जब भरत ननिहाल से लौटते है तो नगर भाँय-भाँय करता हुआ प्रतीत होता है, प्रवेश करते ही सर्वत्र गभीरता, खिन्नता दीख पडती है। इस पीठिका की उपयुक्तता यह है कि भरत के हृदय पर वहाँ व्याप्त शोक का प्रभाव धीरे-धीरे हो रहा है यहाँ तक कि पितृ-मृत्यु वे सहन कर लेते हैं। वे धीरे-धीरे अभ्यस्त होते जा रहे है। एकाएक सूचना मिलती तो भरत के हृदय की धड़कन बन्द होते भी देर न लगती। इस शैली का दूसरा उपयोग यह है कि कवि दशरथ जैसे जनप्रिय शासक की मृत्यु पर नगर-व्यापी शोक व्यंजित करना चाहता है, जो जितना श्रेष्ठ शासक होगा, उसके निधन का शोक भी उतना ही गहरा होगा। नगर तो नगर ही राजभवन भी भरत को सविषाद ज्ञात होता है—

ये गगन चुम्बित महा प्रासाद
मौन साधे हो खड़े सविषाद
शिल्प कौशल के सजीव प्रमाण
शाप से किसके हुए पाषाण !
किरण चूड गवक्ष लोचन मीच
प्राण से ब्रह्माण्ड मे निज खीच । (सप्तम सर्ग)

३. दृश्य-विधान

शैली की एक प्रमुख विशेषता है चित्रात्मकता। गुप्त जी ऐसे शब्दो का व्यवहार करते है कि वर्णन का मूर्त्त रूप उपस्थित हो जाता है। फिर यह वर्णन चाहे घटनात्मक हो या प्रकृति-चित्रण सम्बन्धी। गुप्त जी को उषाकाल का दृश्य बहुत प्रिय मालूम पड़ता है। 'साकेत' का आरम्भ तो उषा काल से है ही, बीच-बीच में अनेक चित्र है। दृष्टव्य यह है कि वस्तु एक होने पर भी सौन्दर्य-वर्णन की नवीनता प्रत्येक स्थान पर अलग-अलग है। प्रात. काल के तीन चित्र प्रस्तुत है—

वेषभूषा साज ऊषा आ गई,
मुख कमल पर मुस्कराहट छा गई।
पक्षियो की चहचहाहट हो उठी,
चेतना की अधिक आहट हो उठी।
स्वप्न के जो रंग थे वे धुल उठे,
प्राणियों के नेत्र कुछ-कुछ खुल उठे। (प्रथम सर्ग)

× × ×

मूँदे अनन्त ने नयन धार वह झाँकी,
शशि खिसक गया निश्चित हँसी हँस बाँकी।
द्विज चहक उठे हो गया नया उजियाला,
हाटक पट पहने दीख पड़ी गिरिमाला। (अष्टम सर्ग)

× × ×

कलिकावलि फूटने लगी, अलि आली उड टूटने लगी।
नभ की मसि छूटने लगी, हरियाली हिम लूटने लगी।
विहगावलि बोलने लगी, यह प्राची पट खोलने लगी। (दशम सर्ग)

चौदह वर्षों के बाद राम पैदल ही भीड़ के साथ नगर में प्रवेश करते है। पुर-कन्याएँ फूल बरसाती है, कुल-ललनाएँ शुभ गीतों का उच्चारण करती है, और

राजमार्ग पाँवडो से सजा है। दृश्य की यह विशालता 'साकेत' में देखने योग्य है—

> द्वार-द्वार पर झूल रही थी शुभ मालाएँ,
> झलती थी ध्वज-व्यजन शीलशीला शालाएँ।
> राजमार्ग में पडे पाँवडे फूल भरे थे,
> छत्र लिए थे भरत, चौर शत्रुघ्न धरे थे।
> माताओ के भाग आज सोते से जागे,
> पहुँचे पहुँचे राम राज तोरण के आगे। (द्वादश सर्ग)

मिलन का दृश्य कितना भव्य है। रानियो के पुत्र आये है, वे सर्वस्व न्योछावर क्यों न करे। सम्पूर्ण नगर की उत्सुकता, प्रफुल्लता यहाँ चित्रबद्ध हो गई है।

उर्मिला जब विदा देते समय लक्ष्मण को प्रणाम करती है, वहाँ भी एक मूर्त्त चित्र उपस्थित किया गया है। राम-वन-गमन प्रसंग में कैकेयी को दशरथ द्वारा समझाए जाने पर अनेक स्थिर एव अवाक् चित्र है—

> पकड कर राम की ठोडी ठहर के,
> तथा उनका बदन उस ओर कर के।
> कहा गतधैर्य होकर भूपवर ने,
> चली है, देख, तू क्या आज करने!
> अभागिन देख कोई क्या कहेगा,
> यही चौदह बरस वन में रहेगा! (तृतीय सर्ग)

× × ×

> चूमता था भूमि तल को अर्द्ध विधु-सा भाल........।
> छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ.......। (प्रथम सर्ग)

गुप्त जी के 'साकेत' में अनेक गतिशील चित्र भी मिलते है। उर्मिला ऐसे छिटक छूटती है जैसे चचला—

> चंचल हो, चंचला सी छिटक छूटी उर्मिला।

माण्डवी भरत के लिए फलाहार लाती है। उनकी ओर सिर झुकाकर देखती हुई मन्दिर में जाती है—

> तनिक ठिठक, कुछ मुड कर दाएँ देखकर अजिर में उनकी ओर
> शीश झुका कर चली गई वह, मन्दिर में निज हृदय हिलोर।
> (एकादश सर्ग)

जब शत्रुघ्न रात्रि के सन्नाटे में नगरवासियो को जगाते हैं तो वीर-गण

तुरन्त सँभल जाते हैं, नारियाँ वस्त्र ठीक करने लगती है और हाथ बढाकर दीपक की बत्ती तेज करती है। यह गत्यात्मक चित्र गुप्त जी ने बड़ा ही मार्मिक उरेहा है—

प्रिया-कण्ठ से छूट सुभट-कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त, वधू जन-हस्त स्रस्त से वस्त्रों पर थे !
प्रिय को निकट निहार उन्होने साहस पाया,
बाहु बढा, पद रोप, शीघ्र दीपक उकसाया। (द्वादश सर्ग)

४. सूक्ष्मता

गुप्त जी की दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यापारों पर जाकर उन्हे भाषाबद्ध कर देती है, फिर वे व्यापार चाहे अमूर्त्त भाव-जगत् के हो या प्रत्यक्ष-जगत के 'साकेत' मे इस सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के चार उदाहरण पर्याप्त होगे।

(क) जहाँ प्रकृति-चित्रण में उषाकाल होते समय दीपक की ज्योति का सिमट जाना, नीद के पैरो का कँपना, उसके आभरणो के ढीले हो जाने का वर्णन किया गया है—

क्योकि उसके अग पीले पड़ चले।
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।
नीद के भी पैर है कँपने लगे,
देख लो लोचन-कुमुद झँपने लगे।
दीपकुल को भी ज्योति निष्प्रभ ही निरी,
रह गई अब एक घेरे में घिरी। (प्रथम सर्ग)

(ख) जहाँ तक सीता के सौन्दर्य का चित्रण हुआ है। दिव्य वस्त्रो तथा अंगो की एकरूपता तो है ही—

पहने थी दिव्य दुकूल अहा ! वे ऐसे,
उत्पन्न हुआ हो देह संग ही जैसे।

गुप्त जी ने चरणो की ललाई बढ़ जाने का वर्णन भी किया है जिससे सीता की कोमलता व्यंजित होती है—

पाकर विशाल कचभार एड़ियाँ धँसती,
तब नखज्योति मिष, मृदुल उँगलियाँ हँसती
पर पग उठने में भार उन्ही पर पड़ता।
तब अरुण एड़ियो से सुहास सा झड़ता। (अष्टम सर्ग)

(ग) दशरथ की तर्क-वितर्कावस्था में राम-लक्ष्मण तो वन की सोचते है,

मंत्रीगण अवाक् खडे हैं, रानियाँ हतप्रभ हैं तब दास-दासी भी कमरे के बाहर गौर से कान लगाकर सुनते हैं कि भीतर क्या हो रहा है, सबके सामने आना मर्यादा के प्रतिकूल था—

झुकाकर सिर प्रथम फिर टक लगा कर,
निरखते पार्श्व से थे भृत्य आकार।
यही होकर अभी यद्यपि गये थे,
तदपि वे दीखते सबको नए थे। (तृतीय सर्ग)

(घ) जहाँ उर्मिला अपने बचपन का वर्णन करती हुई धनुष-भंग का उल्लेख करती है। लज्जा आने पर लडकियाँ प्रायः धोती का आँचन अंगुली में लपेटने लगती है या दृष्टि झुकाकर तिरछी कर लेती है। तुलसी की सीता तो धरती में कभी नाखून से लिखती है, कभी अँगूठा गड़ा देती है। 'साकेत' की उर्मिला की स्थिति भी लक्ष्मण को देखकर लगभग वही हुई—

सुन देख हुई विभोर मैं बटती थी परिधान छोर मैं। (दशम सर्ग)

५. कलात्मकता

'साकेत' की शैली में कलात्मक अभिव्यजना का गुण है। वस्तुओ की तुलना मे गुप्त जी ने साधर्म्य का अधिक ध्यान रखा है, इसलिए वह आकर्षक है—

नाक का मोती अधर की काति से
बीज दाड़िम का समझ कर भ्राति से। (प्रथम सर्ग)

मोती का रंग हलका पानी घुला हुआ श्वेत होता है उस पर होठो की ललाई झलकी तो बीच में कुछ लाल रग आ जायगा। अब उसे दाड़िम का बीज समझा गया। दाडिम भी उतना ही हल्का सफेद होता है और बीच में उतनी ही हल्की ललाई होती है। दोनो में गुण-साम्य तो हुआ ही, आकार-साम्य भी है। तब शुक उसे दाड़िम समझ बैठता है तो ठीक ही समझता है।

गुप्त जी ने प्रभाव-साम्य के आधार पर भी सादृश्य-विधान किया है—

जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,
है जिसकी पकज पंक्ति, अचल सी काया!
उस सरसी-सी, आभरण-रहित, सितवसना,
सिहरे प्रभु माँ को देख, हुई जड़ रसना।

प्राचीन काव्य में प्रस्तुत की तुलना प्रायः प्राचीन से ही दी जाती थी। अप्रस्तुत विधान, लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता शैली की नवीन विशेषताएँ हैं जिनका प्रयोग गुप्त जी ने किया है। 'साकेत' के एक स्थान पर गुप्त जी ने वर्णन तो

प्रकृति का किया है जो प्रस्तुत है पर उसके पीछे आती हुई एक नायिका का वर्णन है जो अप्रस्तुत है—

अरुण संध्या को आगे ठेल,
देखने को कुछ नूतन खेल।
सजे विधु की बेंदी से भाल,
यामिनी आ पहुँची तत्काल। (द्वितीय सर्ग)

सम्बोधन पद्धति को भी कला की विशेषता माना जा सकता है। यह नवीन प्रणाली है। इसमें किसी सजीव या निष्प्राण वस्तु को सम्बोधित कर अपने उद्‌गार प्रकट किए जाते है। 'साकेत' की उर्मिला कभी किरण को सम्बोधित करती है, कभी खरगोश को, कभी हिमालय को तो कभी सरयू को—

(क) ओ गौरव गिरि उच्च उदार!
(ख) भूल पडी तू किरण कहाँ ?
(ग) आ जा मेरी निदिया गूँगी!
(घ) कह विहग! कहाँ है आज आचार्य तेरे ?
(ङ) दरसो, परसो, घन बरसो!
(च) सरयू, जय दुदुभी बजी!

कही-कही कवि ने स्वयं इस प्रकृति का प्रयोग किया है—

(क) लेखनी, अब किस लिए विलम्ब ?
(ख) कहाँ है कल्पने! तू देख आकर!
(ग) करुणे क्यो रोती है ?

चमत्कार उत्पादन की अन्य विधियाँ भी उन्होने अपनायी हैं। सुरसरि के तट पर आते समय यह वर्णन—

बैठी नाव निहार लक्षणा-व्यंजना,
'गंगा में गृह' वाक्य सहज बालक बना।
× × ×
वहाँ हर्ष के साथ कुतूहल छा गया,
नाव चली या स्वय पार ही आ गया।

शब्दों या वाक्यों की पुनरुक्ति से भी चमत्कार उत्पन्न हुआ है। शब्दों की आवृत्ति छह उद्देश्यों के लिए हुई है—

(क) क्रिया की गतिशीलता दिखाने के लिए—

'सिकुडा-सिकुड़ा दिन था, सभीत सा शीत के कसाले से।'

(ख) ध्वनि की अभिव्यक्ति के लिए—

'उछल उछल कर, छल छल करके।'

(ग) भेद प्रकट करने के लिए

'थल थल करके कल कल झरके ।'

(घ) उत्साह जाग्रत करने के लिए—

'बढ जा बढ जा विटप निकट बल्ली ।'

(ङ) सम्वेदना जाग्रत करने के लिए—

'कूडे से भी आगे पहुँचा अपना अदृष्ट गिरते गिरते ।'

(च) मंथरता दिखाने के लिए—

'सखि नील नभस्सर में उतरा
यह हंस अहा तरता तरता ।'

शब्द की ऐसी प्रक्रियाओ में ध्वनि को अपेक्षा वाच्यार्थ ही चमत्कारपूर्ण होता है। शब्दो के द्वारा अर्थ की व्यजना तो कम होती है किन्तु अभिधेयार्थ में एक विस्तार एवं वृद्धि-सी आ जाती है ।

भाव से हृदय को दबाने के लिए कवि ने समानाधिकारी वाक्यो की भी पुनरावृत्ति की है। एक ही बात कई बार मन में टकरा कर भाव की ओर आकर्षण उत्पन्न कर देती है । यथा—

"भरत से सुत पर भी सन्देह,
बुलाया तक न उन्हे जो गेह !"

कैकेयी को यह वाक्य जितनी बार याद आता है, उतनी ही बार गहरी चोट करता है।

सचमुच समर्थ सृष्टा की सृष्टि 'साकेत' में विभिन्न शैलियो का समन्वय है ।

साकेत का गीतात्मक सौन्दर्य

'साकेत' विविध छन्दोमयी, नाद-सौन्दर्य-पूर्ण एवं लय-तान समन्वित संगीत-मयी रचना है यद्यपि इस महाकाव्य की रचना विविध मात्रिक एव वर्णिक वृत्तों में हुई है, तथापि इसमें ऐसी सरस एवं मधुर कविताएँ भी मिलतो है, जो कवि के अंत-करण में विद्यमान किसी भावना के उत्कट आवेग के रूप में लिखी गई हैं, जिनमें ताल-लय की विशुद्धता एव सगीतात्मकता है, जिनका पूर्वा पर किसी अन्य छन्द या कविता से कोई सम्बन्ध नही है, जो अपने में ही पूर्ण है और किसी एक भाव की द्योतक है। कवि की इन कविताओं को 'गीत' कहा गया है और इन्ही के कारण 'साकेत' में गीतात्मक सौन्दर्य की अभिवृद्धि हुई है।

प्रायः गीत दो प्रकार के होते हैं—ग्राम्य और नागरिक। ग्राम्य गीतो से तात्पर्य उन गीतों से है जो किसी तीज-त्योहार के समय तथा मांगलिक अवसर पर स्त्रियों द्वारा गाये जाते है। इनमें सास्कृतिक तत्त्व की प्रधानता रहती है। नागरिक गीतों से तात्पर्य उन साहित्यिक गीतो से है, जिनकी रचना सुप्रसिद्ध कवियों द्वारा की जाती है और जो काव्य कला के उत्कृष्ट गुणो से विभूषित होते हैं। प्रायः ग्राम्य गीतों के रचयिताओं का कुछ पता नही होना, जबकि नागरिक गीतों के रचयिताओं का नाम सभी को ज्ञात होता है।

'साकेत' में जिन गीतों की रचना हुई है वे सब नागरिक अर्थात् साहित्यिक गीत है। गुप्त जी के समय तक साहित्यिक गीतों की रचना के लिए तीन पद्धतियाँ प्रचलित थी—(१) पद-पद्धति (२) प्रगीत पद्धति (३) सबोधि गीति-पद्धति। पद-पद्धति पर सूर, तुलसी, मीरा आदि हिन्दी के कवियो ने गीत रचे है। प्रगीत-पद्धति पर प्रसाद, पंत, महादेवी, निराला आदि आधुनिक युग के कवियो ने अपने गीतो की रचना की है। सबोधि गीति-पद्धति पर वे गीत रचे गये है जिनमें कभी व्यक्ति या पदार्थ को सम्बोधित करके गीतात्मक कविता का विकास हुआ है। प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, दिनकर आदि ने सम्बोधि-गीति पद्धति पर अनेक गीतो की रचना की है। इन सभी गीतों में गेयता का गुण सर्वोपरि होता है जो कि साहित्यदर्पणकार के इस लक्षण 'शुद्ध गान गेयपद

स्थित पाठ्य तदुच्यते' से भी स्पष्ट हो जाता है। रामदहिन मिश्र ने भो गोत की यही परिभाषा को है कि "गीत वह है जिसमे ताल-लय-विशुद्ध और सुस्वर-सम्बद्ध पक्तियाँ हों। गेय होने के कारण इन्हे गीत कहते है।"

(काव्यदर्पण, पृ० ३२८)

'गीतों के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर जब हम 'साकेत' के गीतात्मक सौन्दर्य पर दृष्टिपात करते है तब पता चलता है कि इसके तीन सर्ग ही ऐसे है—अष्टम, नवम तथा दशम—जिनमें कवि ने सुमधुर गीतो का सृजन करके काव्य को नूतन रूप प्रदान किया है। सर्वप्रथम तो अष्टम सर्ग मे 'मेरी कुटिया में राज-भवन मन भाया' नामक एक ऐसे गीत की रचना की गई है, जो यद्यपि १३ और ६ की यति से २२ मात्राओ के राधिका छन्द मे लिखा गया है, तथापि अपनी गेयता एवं संगीतात्मकता के कारण लय-तान-युक्त मधुर प्रगीत के रूप में अंकित है। इसके अतिरिक्त नवम सर्ग की रचना प्रायः प्रगीत-पद्धति पर ही हुई है। उससे सभी गीत तीव्र आत्मानुभूति, संवेदनशीलता, अविच्छिन्न भावोन्माद, सुख-दुख एवं आशा-निराशा-जन्य आवेग आदि से परिपूर्ण होने के कारण 'साकेत' को गीतात्मक सौन्दर्य से परिपुष्ट कर रहे है।

'साकेत' के अष्टम सर्ग का उक्त गीत सीता के मनोभावो का व्यंजक है। इसमे सीता के स्वाभिमान, स्वावलम्बन, कर्मशीलता, प्रकृति-प्रेम, परदु:ख-कातरता, सेवा-परायणता, स्वदेशानुराग एवं राष्ट्रीय मनोभावो का भी व्यंजक है। क्योंकि इसमें कवि ने 'औरो के हाथों यहाँ नही पलती हूँ, अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ' जैसे वाक्य सीता के मुख से कहला कर नारी की तत्कालीन स्वावलम्बिनी वृत्ति का सजीव चित्रण किया है; साथ ही भोली-भाली कोल, किरात एवं भीलो की बालिकाओ को नागरिकता का पाठ पढाने एव कातने-बुनने की कला सिखाने में कवि ने अपने युग के सुधारवादी आन्दोलन की भावना को बडे ही मार्मिक शब्दो में व्यक्त किया है। (साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० ११३) सारे गीत मे अनुभूति-जन्य आवेग की प्रधानता है, सवेदनशीलता है और यह गीत इच्छा-आकांक्षा, सुख-दुख, परदुःख-कातरता, देशभक्ति, वेदना आदि से ओतप्रोत है।

'साकेत' के नवम सर्ग में वे गीत आते है जो प्राचीन तथा आधुनिक पद्धतियों पर लिखे गये है और जिनके कारण 'साकेत' में नाद सौन्दर्य-पूर्ण नादात्मकता दृष्टिगोचर होती है। नवम सर्ग के पहले गीत की टेक है ओ गौरव-गिरि उच्च उदार।' इस गीत के अंतर्गत कवि ने चित्रकूट पर्वत की प्राकृतिक सुषमा का चित्र अंकित किया है। कवि ने यहाँ पर्वत पर स्थित ऊँचे-ऊँचे झाड़ों, विविध जीवों, बादलो को देखकर नाचते हुए मयूरों, बसंत ऋतु के कारण विक-

सित प्रसूनो, कन्द-मूल-फल से युक्त विपिनो, सुमधुर झरनो, धातुमय उपलों एवं अन्य प्राकृतिक पदार्थों से सुमज्जित शृंगों का वर्णन किया है। यह गीत सबोधि-गीति-पद्धति पर लिखा गया है और इसमें सारा वर्णन पर्वत के संश्लिष्ट बिम्ब-विधान में सहायक न होकर उसका विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करने में ही सहा-यक हुआ है। शब्दो में भी सरसता, सुकुमारता एव सरलता के स्थान पर कुछ कठोरता एवं क्लिष्टता दिखाई देती है। फिर भी इनमें लय-तान-युक्त नादात्मक सौन्दर्य विद्यमान है।

इसके बाद 'जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी' नामक गीत अंकित है। इस गीत में कवि ने उर्मिला के बचपन एवं युवा-जीवन की यथार्थ झाँकी प्रस्तुत करते हुए भावी जीवन का आशाप्रद चित्र अंकित किया है। निस्सन्देह उर्मिला का बचपन सरसता एवं मधुरता से परिपूर्ण रहा और विवाह होते ही उसने जैसे ही यौवन में प्रवेश किया, वैसे ही वह श्रान्ति-क्लान्ति-युक्त विरह-विदग्ध जीवन व्यतीत करने लगी। पहले गीत की अपेक्षा इस गीत में अधिक मधुरता है। शब्दों का चयन भी भावानुकूल है। गीत के अंतिम चरण में आकर कवि ने क्लिष्ट कल्पना की है क्योंकि 'किन्तु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली' जैसी पक्ति ने गीत की सरसता एवं मधुरता में व्याघात उत्पन्न किया है और कोमल कल्पना के स्थान पर क्लिष्ट कल्पना ने भावात्मक सौन्दर्य नष्ट-सा कर दिया है।

तत्पश्चात् 'वेदने तू भी भली बनी' वाला गीत अंकित है। यह गीत सम्बोधि-गीति-पद्धति मिश्रित पद-पद्धति पर लिखा गया है, परन्तु इसमें आत्म-निवेदन न होकर वैयक्तिक अनुभूति का ही प्राधान्य है और वेदना का सांगोपाग निरूपण किया गया है। यह सत्य है कि वेदना अभाव से उत्पन्न होती है, परन्तु कवि ने 'आ अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्ट जनी' कहकर अभाव को उसका पिता तथा अदृष्टि को उसकी माता के रूप में माना है। कवि की यह कल्पना बडी मनोरम एवं मार्मिक है। परन्तु 'दृगम्बु सनी' 'अदृष्ट जनी', 'उपमोचित स्तनी' जैसे शब्दों के कारण गीत को सुकुमारता एवं मधुरता नष्ट हो गई है।

तदनन्तर प्रमुख गीतों में 'दोनों ओर प्रेम पलता है' नामक गीत आता है। इसमें कवि की तीव्रानुभूति-जन्य संवेदना विरहिणी की परवशता, विह्वलता आदि के साथ व्यक्त हुई है। इस गीत की रचना संभवतः इस शेर पर हुई है—

शमा जलती है महफिल में उड़े है गिर्द परवाने।
ये दोनों मिल के जलते हैं मुहब्बत का असर देखो॥

स्थित पाठ्य तदुच्यते' से भी स्पष्ट हो जाता है। रामदहिन मिश्र ने भी गीत की यही परिभाषा की है कि "गीत वह है जिसमें ताल-लय-विशुद्ध और सुस्वर-सम्बद्ध पंक्तियाँ हो। गेय होने के कारण इन्हे गीत कहते है।"

(काव्यदर्पण, पृ० ३२८)

'गीतों के उपर्युक्त विवेचन के आधार पर जब हम 'साकेत' के गीतात्मक सौन्दर्य पर दृष्टिपात करते है तब पता चलता है कि इसके तीन सर्ग ही ऐसे है—अष्टम, नवम तथा दशम—जिनमें कवि ने सुमधुर गीतों का सृजन करके काव्य को नूतन रूप प्रदान किया है। सर्वप्रथम तो अष्टम सर्ग में 'मेरी कुटिया मे राज-भवन मन भाया' नामक एक ऐसे गीत की रचना की गई है, जो यद्यपि १३ और ६ की यति से २२ मात्राओं के राधिका छन्द में लिखा गया है, तथापि अपनी गेयता एवं संगीतात्मकता के कारण लय-तान-युक्त मधुर प्रगीत के रूप में अंकित है। इसके अतिरिक्त नवम सर्ग की रचना प्रायः प्रगीत-पद्धति पर ही हुई है। उससे सभी गीत तीव्र आत्मानुभूति, संवेदनशीलता, अविच्छिन्न भावोन्माद, सुख-दुख एव आशा-निराशा-जन्य आवेग आदि से परिपूर्ण होने के कारण 'साकेत' को गीतात्मक सौन्दर्य से परिपुष्ट कर रहे है।

'साकेत' के अष्टम सर्ग का उक्त गीत सीता के मनोभावो का व्यंजक है। इसमे सीता के स्वाभिमान, स्वावलम्बन, कर्मशीलता, प्रकृति-प्रेम, परदु.ख-कातरता, सेवा-परायणता, स्वदेशानुराग एव राष्ट्रीय मनोभावों का भी व्यंजक है। क्योंकि इसमें कवि ने 'औरो के हाथो यहाँ नही पलती हूँ, अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ' जैसे वाक्य सीता के मुख से कहला कर नारी की तत्कालीन स्वावलम्बिनी वृत्ति का सजीव चित्रण किया है; साथ ही भोली-भाली कोल, किरात एवं भीलो की बालिकाओ को नागरिकता का पाठ पढाने एवं कातने-बुनने की कला सिखाने में कवि ने अपने युग के सुधारवादी आन्दोलन की भावना को बडे ही मार्मिक शब्दो में व्यक्त किया है। (साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० ११३) सारे गीत मे अनुभूति-जन्य आवेग की प्रधानता है, सवेदनशीलता है और यह गीत इच्छा-आकांक्षा, सुख-दुख, परदुःख-कातरता, देशभक्ति, वेदना आदि से ओतप्रोत है।

'साकेत' के नवम सर्ग में वे गीत आते हैं जो प्राचीन तथा आधुनिक पद्धतियों पर लिखे गये है और जिनके कारण 'साकेत' में नाद-सौन्दर्य-पूर्ण नादात्मकता दृष्टिगोचर होती है। नवम सर्ग के पहले गीत की टेक है ओ गौरव-गिरि उच्च उदार।' इस गीत के अंतर्गत कवि ने चित्रकूट पर्वत की प्राकृतिक सुषमा का चित्र अंकित किया है। कवि ने यहाँ पर्वत पर स्थित ऊँचे-ऊँचे झाड़ों, विविध जीवों, बादलों को देखकर नाचते हुए मयूरों, बसंत ऋतु के कारण विक-

सित प्रसूनो, कन्द-मूल-फल से युक्त विपिनो, सुमधुर झरनो, धातुमय उपलो एव अन्य प्राकृतिक पदार्थों से सुसज्जित शृंगों का वर्णन किया है। यह गीत सबोधि-गीति-पद्धति पर लिखा गया है और इसमें सारा वर्णन पर्वत के संश्लिष्ट बिम्ब-विधान में सहायक न होकर उसका विवरणात्मक चित्र प्रस्तुत करने में ही सहायक हुआ है। शब्दो मे भी सरसता, सुकुमारता एव सरलता के स्थान पर कुछ कठोरता एवं क्लिष्टता दिखाई देती है। फिर भी इनमे लय-तान-युक्त नादात्मक सौन्दर्य विद्यमान है।

इसके बाद 'जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी' नामक गीत अकित है। इस गीत में कवि ने उर्मिला के बचपन एवं युवा-जीवन की यथार्थ झाँकी प्रस्तुत करते हुए भावी जीवन का आशाप्रद चित्र अंकित किया है। निस्सन्देह उर्मिला का बचपन सरसता एवं मधुरता से परिपूर्ण रहा और विवाह होते ही उसने जैसे ही यौवन में प्रवेश किया, वैसे ही वह श्रान्ति-क्लान्ति-युक्त विरह-विदग्ध जीवन व्यतीत करने लगी। पहले गीत की अपेक्षा इस गीत में अधिक मधुरता है। शब्दों का चयन भी भावानुकूल है। गीत के अतिम चरण में आकर कवि ने क्लिष्ट कल्पना की है क्योकि 'किन्तु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली' जैसी पक्ति ने गीत की सरसता एवं मधुरता में व्याघात उत्पन्न किया है और कोमल कल्पना के स्थान पर क्लिष्ट कल्पना ने भावात्मक सौन्दर्य नष्ट-सा कर दिया है।

तत्पश्चात् 'वेदने तू भी भली बनी' वाला गीत अंकित है। यह गीत सम्बोधि-गीति-पद्धति मिश्रित पद-पद्धति पर लिखा गया है, परन्तु इसमें आत्म-निवेदन न होकर वैयक्तिक अनुभूति का ही प्राधान्य है और वेदना का सागोपाग निरूपण किया गया है। यह सत्य है कि वेदना अभाव से उत्पन्न होती है, परन्तु कवि ने 'आ अभाव की एक आत्मजे, और अदृष्ट जनी' कहकर अभाव को उसका पिता तथा अदृष्टि को उसकी माता के रूप में माना है। कवि की यह कल्पना बडी मनोरम एवं मार्मिक है। परन्तु 'दृगम्बु सनी' 'अदृष्ट जनी', 'उपमोचित स्तनी' जैसे शब्दों के कारण गीत को सुकुमारता एवं मधुरता नष्ट हो गई है।

तदनन्तर प्रमुख गीतों में 'दोनों ओर प्रेम पलता है' नामक गीत आता है। इसमें कवि की तीव्रानुभूति-जन्य संवेदना विरहिणी की परवशता, विह्वलता आदि के साथ व्यक्त हुई है। इस गीत की रचना संभवतः इस शेर पर हुई है—

> शमा जलती है महफिल में उड़े है गिर्द परवाने।
> ये दोनों मिल के जलते हैं मुहब्बत का असर देखो॥

भावानुकूल शब्द-योजना, सुमधुर पदावली एवं नादात्मक सौन्दर्य के कारण यह गीत अत्यन्त सरस एव मधुर है, परन्तु इसमे भी 'शरण किसे छलता है' जैसी पंक्ति कवि भी शिथिल कल्पना की द्योतक है।

इसके पश्चात् 'आजा मेरी निदिया गूँगी' गीत की सृष्टि हुई है। इसमें 'अर्द्धचन्द्र' जैसे प्राचीन शब्द के प्रयोग से क्लिष्टता आ गई है, क्योंकि ऐसे प्रयोग गीत की सरस अभिव्यक्ति मे व्याघात पहुँचाते है। यही दशा आगामी गीत 'स्नेह जलाता है यह बत्ती' में भी है। 'रत्ती', 'तत्ती' जैसी तुको के लिए कवि ने अपने रचना-शैथिल्य का परिचय दिया है। इससे आगे 'मन को यों मत जीतो, गीत मे तीव्र अनुभति एव व्यथा-वेदना की विवृति में तो नाद-सौन्दर्य विद्यमान है, परन्तु 'चोतो' 'रीतो' जैसी तुकबन्दियो से अभिव्यक्ति में शिथिलता आ गई है।

आगामी गीत 'कहती मै चातकि फिर बोल' की रचना सम्बोधि-गीत-पद्धति मिश्रित पद-पद्धति पर हुई है। इस गीत मे हृदय की गहन अनुभूति, संवेदना के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है, क्योकि चातक और उर्मिला की स्थिति एक-सी है। 'जो तेरे सुर में सो मेरे उर में कल-कल्लोल' जैसी शिथिल पक्तियो के कारण गीत की मधुरता एवं सरसता नष्ट हो गई है। अगला गीत 'मेरी ही पृथिवी का पानी' की रचना प्रगीत-पद्धति पर हुई है। इसमे कल्पना की मनोहरता के साथ-साथ सगीतात्मकता भी विद्यमान है तथा विरहिणी के सुख-विलास की मादक स्मृति ने इस गीत मे सरसता का भी सचार कर दिया है। इसके आगे 'दरसो परसो घन बरसो' गीत क. रचना पुन. सम्बोधि-गीत-पद्धति-मिश्रित पद-पद्धति पर की गई है। इसमे भी अन्य गीतो जैसी शिथिल तुकबन्दी तथा 'उदग्र जगज्जननी' जैसी कठोर पदावली के कारण सरसता एव मधुरता का सर्वथा अभाव है। तदनन्तर सात पक्तियो का 'सफल है उन्ही घनो का घोष' नामक गीत अंकित है। यह लघु गीत प्रगीत-पद्धति पर लिखा गया है और अपनी लघुता, स्वाभाविकता एवं सरसता में अन्य गीतो की अपेक्षा सुन्दर है।

इसके बाद 'सखि छिन धूप और छिन छाया, यह सब चौमासे की माया' गीत प्रगीत-पद्धति पर लिखा गया है, जो बोलचाल की भाषा में लोक-प्रचलित लोकोक्ति के आधार पर निर्मित हुआ है। इसमें भी रचना-शैथिल्य स्पष्ट झलक रहा है। तत्पश्चात् 'निरखि सखी ये खंजन आये' नामक गीत है। इसमें सादृश्य कल्पना द्वारा कवि ने प्राचीन परिपाटी का पालन किया है। इसकी रचना पद-पद्धति पर हुई है और भावों की सुकुमारता, अनुभूति की तीव्रता, भाषा-शैली की मनोरमता एवं कल्पना की गहनता के लिए यह गीत अन्य गीतों की अपेक्षा अधिक

सरस एव मनोहर है। इसके बाद 'कोक शोक मत कर हे तात' नामक छोटा-सा गीत पुन सम्बोधि-गीत-पद्धति-मिश्रित पद-पद्धति पर लिखा गया है, जिसमें आत्मीयता एव परदु ख-कातरता से परिपूर्ण स्वाभाविक भावाभिव्यक्ति तो है, परन्तु सरसता एवं कमनीयता का सर्वथा अभाव है। इसके पश्चात् प्रगीत-पद्धति पर लिखा हुआ 'सखी निरखि नदी की धारा' नामक गीत है। इस गीत में 'ढलमल-ढलमल चंचल अचल, झलमल झलमल तारा' पक्ति में ध्वन्यर्थ व्यजना नामक नवीन पाश्चात्य अलंकार की योजना के साथ-साथ नादात्मक सौन्दर्य विद्यमान है। सरस पदावली एव संगीतात्मकता के कारण इस गीत मे सरसता एवं मनोरमता कही अधिक है।

इसके पश्चात् 'मुझे फूल मत मारो' नामक प्रमुख गीत है। इसकी रचना सम्बोधि-गीति-पद्धति पर हुई है। यह गीत विद्यापति के 'कतन वेदन मोहि देसि मदना' नामक गीत के आधार पर लिखा गया है। इस गीत मे कवि की मनोरम कल्पना लाक्षणिकता एव प्रतीकात्मकता के साथ विविध अलकारो के योग से अपेक्षाकृत श्रेष्ठ लगता है।

इसके बाद प्रमुख गीतो मे 'यही आता है इस मन मे' नामक गीत है। प्रगीत-पद्धति पर लिखित इस गीत मे विरह-विह्वलता, आवेग की प्रबलता और अभिलाषा की तीव्रता के साथ-साथ उत्कण्ठा एव अविच्छिन्न उन्मत्त भावना को मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। तत्पश्चात् उक्त पद्धति पर लिखा गया 'ऊर्मि हूँ मै इस भावार्णव की नई' नामक गीत प्रमुख है। इसमें वेदना की तीव्र तडपन, शोकोच्छ्वास पूर्ण उन्मत्त भावना एवं संवेदनशील कल्पना का प्राधान्य है। इसके बाद सम्बोधि-गीति-पद्धति-मिश्रित पद-पद्धति पर लिखित 'मेरे चपल यौवन-बाल' नामक गीत आता है जिसमें कवि ने साग रूपक अलकार द्वारा विरहिणी की उत्कट आत्म-समर्पण की भावना, सर्वस्व त्याग एवं सहनशीलता का निरूपण किया है।

तत्पश्चात् दशम सर्ग में वर्णित सम्बोधि-गीति-पद्धति वाला गीत आता है। यह सपूर्ण सर्ग ही इसी पद्धति में लिखा गया है। इसमें उर्मिला सरयू को सम्बोधित करके राम-कथा के प्रारम्भिक अंश का—जन्म से लेकर विवाह तक की कथा का—स्वय निवेदन करती है। गीत मे ओज, माधुर्य एव भावावेग के साथ पूर्वराग तथा विरह-विदग्ध दशा का अच्छा निरूपण किया गया है। इस गीत को भी उत्कृष्ट कोटि में नही रखा जा सकता क्योंकि वस्तु वर्णनात्मकता की प्रधानता हो जाने के कारण गीत की सूक्ष्मता, तरलता एव मधुरता नष्ट हो गई है।

साराश यह कि 'साकेत' में वर्णित सभी गीत पद-पद्धति, प्रगीत-पद्धति और

सम्बोधि-गीति-पद्धति पर निर्मित होकर भा न तो भक्त-कवियो की भाँति आत्म-निवेदन पूर्ण दार्शनिकता तथा भक्ति-भावना से परिपूर्ण है और न छायावादी कवियों की भाँति वैयक्तिकता एवं अविच्छिन्न भावुकता से समन्वित है। इनमे कवि ने प्रेम, देशभक्ति, पति-परायणता, करुणा, सवेदना, लोकहित, तीव्र विरह-वेदना, परदुःख-कातरता आदि का सुन्दर निरूपण किया है। इन भावपूर्ण गीतो के कारण 'साकेत' मे सगीतात्मकता के गुण की श्रीवृद्धि हुई है और साकेत की प्रबन्ध कल्पना मे नूतनता एव मधुरता की सृष्टि हुई है। कवि को दृष्टि बहिर्मुखी होने के कारण वह इन गीतो मे वैयक्तिक भावनाओ से परिपूर्ण अन्तःकरण की सूक्ष्म भावनाओ के सजीव चित्र अकित करने की अपेक्षा सामूहिक सामाजिक जीवन की विरहजन्य विषमताओ को ही चित्रित करने में अधिक सफल दिखाई देता है।

साकेत की भाषा

किसी भी काव्यकृति को काव्यत्व का रूप प्रदान करने मे काव्यभाषा का योग कम महत्त्वपूर्ण नही होता। अनुकूल भाषा के अभाव में बड़े से बड़े कवि के भाव लिखित होकर भी अलिखित अथवा अपूर्ण लिखित ही रहेंगे। ऐसी स्थिति में काव्यभाषा की अपनी महत्ता है। वस्तुतः काव्य मार्मिक भावानुभूतिजन्य भाषा का एक विशिष्ट एव कलात्मक रूप ही है। अतएव काव्य का संप्रेषणीयत्व (भाव) उसका वस्तुपक्ष है जो कि कवि के मानसिक व्यक्तित्व का अग है और जिसे काव्य रूप मे बाह्य-प्रकटीकरण के लिए शाब्दिक स्वरूप (भाषा) वरण करना होता है। कवि एक ऐसा भावुक प्राणी होता है जो जीवन और प्रकृति के व्यक्त स्वरूपो में निहित अनेक अवर्णनीय सौन्दर्यात्मक तत्त्वो का दर्शन करके उसे तदनुरूप ऐसे शब्दो में मुखर करने का प्रयास करता है जो स्वतः स्वाभाविक रूप में दृश्यावलियो एव भाव-संधियों को स्वयं तथा दूसरो के लिए अधिक स्पष्ट कर देता है।

काव्यभाषा किस विशेषता के कारण सामान्य भाषा से पृथक् है ? इस प्रश्न के उत्तर में यही कहा जा सकता है कि अति सूक्ष्म, मर्मस्पर्शी, मानव-सवेदनाओ, तीव्रतम अनुभूतियों, मर्मान्तिक भावों अर्थात् साधारणीकरण की अपेक्षा रखने वाले जितने भी भावना-व्यापार है, उनकी अभिव्यक्ति मे सामान्य भाषा असमर्थ हो जाती है।

सामान्य विचारो का संवहन करती हुई भाषा सामाजिकता की पोषक होती है, वही भावसंवाहिका होकर काव्य में भी प्रयुक्त होती है। काव्य रस-स्निग्ध भावमूलक होने से उत्तम वस्तु है किन्तु उसे स्पष्ट, उत्कृष्ट एवं सौन्दर्य-सपन्न बनाने वाला उपादान भाषा-शिल्प है। दूसरे शब्दो मे कलात्मक, कल्पनात्मक, भावात्मक भाषा ही काव्य का प्रायोगिक अस्त्र है। कविता का प्राण भाव अवश्य है किन्तु उसकी कलात्मकता. आकर्षण-सम्पन्नता, प्रभविष्णुता उसके भाव-गाभीर्य की शक्ति तथा संप्रेषणीयता भाषा द्वारा ही सिद्ध होती है। अस्तु, अन्य विषयो की भाँति काव्य की भी अपनी भाषा होती है।

अन्य मानवों की भाँति कवि भी लोक में जन्म लेकर जीवन के प्रथम चरण

से ही तन, मन और वाक् शक्ति का निर्माण अपने-अपने लोक-संसर्ग मे ही करता है, मातृभाषा के रूप में वह प्रथम शब्द लोक-सामान्य-भाषा को ही सुनता एवं सीखता है। तात्पर्य यह कि कवि की काव्यकृतियो एवं उसकी काव्य-भाषा का मूल सामान्य भाषा मे ही होता है, उसके पृथकत्व असभव है।

प्रत्येक युग अत्यन्त ही श्रमपूर्वक अपना काव्यभाषा और शैली का निर्माण करता है और पुन उसे विनष्ट कर देता है। विनष्टता से तात्पर्य काव्यभाषा के अप्रचलन एवं परिवर्तन से है। कारण यह है कि काव्य मे प्रयुक्त होते-होते वही शब्द घिस-पिटकर इतने मलिन और प्रभावहीन तथा पुराने पड जाते है कि वे अप्रिय, विकृत, शिथिल, निकृष्ट, अपुष्ट लगने लगते है कि पाठक उससे बचना चाहता है। जब काव्य इस वृद्ध स्तर पर पहुँच जाता है तो काव्यभाषा का भी पतन अवश्यंभावी हो जाता है और इसका मूल कारण प्रचलित भाषा का अव्याहत परिवर्तन-क्रम है। साहित्यिक युगों का यही इतिहास है।

भाषा की यही प्रकृत परिवर्तनशील गति भाषा की उत्थान या पतन की दोनो ही विशेषताएँ निर्धारित करती है, उसमे शब्दो, उनके उच्चारणों, वाक्य-गठन, रूपाकारों आदि मे देशीय अथवा प्रदेशीय स्तर पर अन्तर हुआ करता है। कव्यभाषा की महत्ता इसी मे है कि वह इन परिवर्तन-क्रमो से अवगत रहते हुए परिवर्तित उन्नत रूप को ही अपनाती हुई सामान्य भाषा का प्रतिनिधित्व करती रहे एव लोकदृष्टि मे अपने साहित्यिक स्तर को अवनत न होने दे।

काव्यगत भाषा-प्रयोग के एक रूप को हम शास्त्रीय भाषा कह सकते है। जिस प्रकार शास्त्रीय काव्य की प्रमुख विशेषता साधारणतः ऊँचे पात्रो का चित्रण होती है, उसी प्रकार चित्रण-शैली भी उच्च होती है। इसमें बाह्य प्रकृति-सौन्दर्य की अपेक्षा न होकर उसका कृत्रिम बाह्य रूप ही प्रधान होता है। अतएव उसमें अनुरूपता, समतुल्यता, क्रम विभाग आदि की पारम्परिक शास्त्रीय सम्मति होती है। जिस प्रकार उसमे परंपरा-पालन का आग्रह होता है उसी प्रकार भाषा का भी शास्त्रीय परम्परा विहित क्लिष्ट, उच्च एवं परिष्कृत, अलकृत तथा काव्यानुमोदित प्रयोग होता है। शास्त्रीय अभिव्यक्ति के माध्यम में भी शिक्षित एवं दीक्षित शिष्टजनों के विपरीत सामान्य जनोपयुक्त तत्त्वों का एक प्रकार से अभाव रहता है। स्वच्छन्द स्वाभाविक प्रवाह के विपरीत भाषा प्रयोग में कृत्रिमता की गन्ध विशेष रहती है। साराशत· इसमें असाधारणता, प्राजलता, आलोक-सामान्यता, अर्थगभीरता, गूढता, व्याकरण-सम्मतता आदि शास्त्रीय काव्यभाषा के लक्षण माने जा सकते है। आधुनिक हिन्दी काव्य में द्विवेदीयुग तक काव्यभाषा का स्तर लगभग वैसा ही रहा है।

'साकेत' की भाषा की जाँच के पूर्व मैथिलीशरण गुप्त जी की भाषा-विषयक मान्यताओ को उद्धृत करना अप्रासंगिक न होगा। गुप्त जी ने विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं एवं अपने काव्यों की भूमिका में भाषा सम्बन्धी अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

गुप्त जी ने पूर्ववर्ती कवियो की भाँति भाषा की सरलता को काव्य की निधि माना है, किन्तु सरलता से उनका अभिप्राय संस्कृत-शब्दो के बहिष्कार से नही है। इसीलिए उन्होने 'काव्य स्वतंत्रता पर सम्मति' शीर्षक लेख में यह लिखा है—' मै इस बात को मानता हूँ कि भाषा का सबसे बडा गुण सरलता है, पर कहीं-कही सस्कृत के शब्द लेने ही पडते है। बिना ऐसा किए मुझ जैसे अल्पज्ञ जनो का काम नही चलता। मेरी तो यह राय है कि अभी हिन्दी मे सस्कृत के शब्द और भी सम्मिलित होगे, बिना ऐसे उसका शब्द-संचय विपुल न होगा।"

(सरस्वती, जुलाई १९१२, पृ० ३६२)

काव्य-भाषा की समृद्धि के लिए कवि को बन्धनमुक्त और उदार दृष्टि से शब्द-संचय का परामर्श देकर गुप्त जी ने इसी मत का प्रतिपादन किया है कि भाषा की परिपक्वता इसी में है कि उसमे विविध मानवीय भावो की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्द वर्तमान हो। उनके मतानुसार "किसी भी भाषा की योग्यता उसकी शब्द-सम्पत्ति पर अवलम्बित है। विपुल शब्द-भंडार होना चाहिए।"

(गुरुकुल, भूमिका, पृ० ६)

कवि की भाँति अध्येता को भी शब्दबोध के प्रति सजग रहना चाहिए। गुप्त जी ने इस धारणा को पं० बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रति २९ जनवरी, सन् १९३२ को लिखे गए एक पत्र में इस प्रकार व्यक्त किया है—"प्रसाद गुण का मैं सदैव पक्षपाती हूँ, परन्तु लेखक भी पाठक से कुछ आशा रखता है। यों तो किसी भी लेखक की सभी कृतियाँ सबके लिए समान रूप से ग्रहणीय नही हो सकतीं।"

(विशाल भारत, फरवरी १९३२, पृ० २७६)

अतः यह स्पष्ट है कि कवि ने भाव-साधना की भाँति शब्द-साधना को भी कवि-कर्म का अंग मानकर भाषा की सहजता को काव्य का प्रधान गुण माना है। इस विषय में 'ब्रजभाषा और खड़ी बोलो' शीर्षक कविता में खड़ी बोली के प्रति कथित ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> कहना सब सुस्पष्ट, सरल शब्दों मे खुलकर,
> बन कर रहे सुवर्ण, वर्ण काँटे पर तुलकर।

(माधुरी, नवम्बर १९२५, पृ० ६७३)

इन पंक्तियों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुप्त जी ने भाषा

की सुबोधता और स्वच्छन्दता को भी काव्य की सजीवता के लिए अनिवार्य माना है। इसीलिए उन्हे शब्द-वृत्तियों में अभिधा अधिक ग्राह्य रही है। लक्षणा-व्यंजना का तिरस्कार न करने पर भी उन्होने अपनी कृतियो में अप्रत्यक्ष रूप से शब्द के वाच्य-वाचक व्यापार को ही गौरव दिया है। 'साकेत' मे उन्होने लिखा है—

> बैठी नाव निहार लक्षणा-व्यंजना।
> 'गगा मे गृह' वाक्य सहज वाचक बना ॥
>
> (साकेत, पंचम सर्ग, पृ० १०२)

इसी प्रकार उन्होंने शब्द के विशिष्ट अथवा वाछित अर्थ के लिए उपयुक्त शब्द-व्यवहार को भाषा की शक्ति-कान्ति का सस्कारक मान कर काव्य मे श्रवण-सौख्य को उसका स्वाभाविक फल माना है। उनके मतानुसार "सुश्राव्य होना भी भाषा का एक बडा गुण है, किन्तु यह भी उसके शब्दों पर अवलम्बित रहता है। उपयुक्त अर्थ के लिए उपयुक्त शब्द होने से श्रुति-सुखदता आप ही आप उत्पन्न हो जाती है।" (गुरुकुल, भूमिका) सचमुच भावोपयुक्त पद-योजना से काव्य मे अभिव्यंजना की सरसता का विधान काव्य का महत्त्वपूर्ण उपादान है। उससे काव्य का बहिरंग ही शोभान्वित नही होता, अपितु उसे भावक्षेत्र में भी सौन्दर्य की उपलब्धि होती है। गुप्त जी ने काव्य-पदावली की ऋजु-सरलता, सहज मधुरता और प्रभविष्णु सजीवता का उल्लेख कर काव्य-जगत् के इसी मनोरम सत्य का उद्घाटन किया है।

अब गुप्त जी की काव्यभाषा-विषयक इन्ही मान्यताओ की पृष्ठभूमि पर 'साकेत' की भाषा का परीक्षण करे।

साकेत में शब्द-अस्तित्व

काव्य मे भाषा का असाधारण एव चमत्कारपूर्ण प्रयोग होता है। यह वैशिष्ट्य किसी अंश मे विचारो और भावो के आकर्षण से उद्भूत होता है। किन्तु उसका रहस्य बहुत कुछ शब्दों के कौशलपूर्ण प्रयोग में मिलता है। सफल कवि शब्दों का पारखी होता है। शब्द भाषा की अन्विति है। वैसे तो वर्णों के संयोग से भाषा बनती है, किन्तु जब वर्ण शब्दों के रूप में नियोजित हो जाते हैं, तभी उनमें अर्थोत्पादन की क्षमता आती है। ओष्ठ, दन्त, तालू, कठ आदि स्वर-संस्थानो की सम्यक् क्रिया से शब्द उच्चरित होते हैं। शब्दो के ऊपर अधिकार मनुष्य ने बहुत पहले ही विकास-क्रम में प्राप्त कर लिया था और अब तक वह मानव जाति का भेदक गुण बना हुआ है। प्रत्येक शब्द से किसी पदार्थ, किसी क्रिया, किसी गुण अथवा किसी सम्बन्ध या जाति का पता चलता है। शब्दों का अर्थ अथवा संकेत बहुत कुछ निश्चित होता है, क्योंकि ऐसा न होने

पर भाषा का अभीष्ट व्यापार असभव नही तो कठिन अवश्य हो जायगा। शब्द कभी प्रचलित और कभी अप्रचलित हो जाते है। प्रयोग और प्रसार से ही उनमें जीवनी शक्ति आती है। अन्यथा वे मृतवत् शब्दकोश के कोने में पडे रहते हैं। कोई समर्थ कवि या लेखक निर्जीव शब्दों को पुनः प्रयोग में लाकर सजीव बना देता है। कविवर पन्त के शब्दो में प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृत्स्पन्दन, स्वतत्र अंगभगी और स्वाभाविक साँसे होती है। हमारे राष्ट्रकवि गुप्त जी को भी शब्दो की हर धड़कन की पहचान थी। उन्होंने प्रसगानुकूल तत्सम एव तद्भव शब्दो को काव्य में पिरोया है।

तत्सम शब्द

स्वधर्म और स्वसस्कृति के प्रति कवि की आस्था ने उसमे विशेष सत्कार और आत्मीयता की भावना जाग्रत और पल्लवित कर दी। वस्तुतः हमारी आस्था जिस सनातन धर्म के और हमारी श्रद्धा जिस आर्य-सस्कृति के प्रति है, उन दोनों से सम्बन्धित प्रामाणिक आर्ष ग्रन्थ आदिकाल से संस्कृत में ही उपलब्ध रहे है। धर्म और सस्कृति सम्बन्धी हमारी दैनिक चर्या और चर्चा संस्कृत भाषा के बिना सम्पन्न ही नही हो पाती। अतएव प्रारम्भ से ही हिन्दी भाषा और उसकी प्रमुख विशेषताएँ देववाणी सस्कृत के शब्दो से सम्पन्न होती आयी है। 'साकेत' में भी विभिन्न तत्सम शब्द सहज उपलब्ध है।

(१) व्यावहारिक तत्सम शब्द

प्रत्येक भाषा में भूख-प्यास, वेशभूषा आदि की वस्तुओ, शरीर के अगो, निकटतम पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों आदि के लिए बहुत से साधारण शब्दों का प्रयोग किया जाता है। 'साकेत' से कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

(क) भूख-प्यास, भोजन या खान-पान संबधी शब्द—

दधि — **दधि** विलोडन, शास्त्र मन्थन सब कही;
पूलक-पूरिक तृप्त तन-मन सब कही। (पृ० १६)

× ×

घृत — बरसता था **घृत** तथा कर्पूर,
सूर्य पर था एक लघु धन दूर। (पृ० २१५)

× × ×

मिष्टान्न — रहते है **मिष्टान्न** पडे,
लगते है फल मधुर बडे। (पृ० १२२)

जम्बूफल — **जम्बूफल** जीजी ने लिये थे, तुझे याद है। (पृ० २९७)

आमिष — **आमिष** दिया अपना जिन्होंने श्येन-भक्षण के लिए (पृ०३१३)

(ख) रहन-सहन, वेश-भूषा, वस्त्रालंकार सबधी शब्द—

अंगराग पुरागनाओ के घुले,
रग लेकर नीर में जो है धुले। (पृ० २१)

× ×

पद्मरागों से अधर मानो बने। (पृ० २७)

× ×

बस, मिलें **पादुका** मुझे, उन्हे ले जाऊँ। (पृ० २६३)

(ग) शरीर के अग एवं तत्त्व—

यह ओषधीश उनको स्वकरो से **अस्थिसार** देता है। (पृ० ३८२)

× ×

अंचल-पट **कटि** मे खोंस, कछोटा मारे। (पृ० २२१)

× ×

तब **नख**-ज्योति मिष, मृदुल अंगुलियाँ हँसती। (पृ० २२१)

(घ) पारिवारिक-सामाजिक सबंध सूचक शब्द—

पौरजन रहते परस्पर है मिले। (पृ० २२)

× ×

किंकरी ने तब कहा तुरन्त— (पृ० ४५)

× ×

और वे **औरस** भरत कुमार। (पृ० ४५)

× ×

भरत से **सुत** पर भी सन्देह। (पृ० ४६)

× ×

भरत था मेरा कभी **अपत्य** (पृ० ५२)

× ×

अनुज की ओर दायें और बाये। (पृ० ८०)

× ×

भरत-शत्रुघ्न से **भ्राता** यहाँ पर। (पृ० ८२)

× ×

जिसे है साथ रखा **नाथ**! तुमने। (पृ० ८६)

× ×

सुहृत्, सहचर, **सचिव**, **सेवक** सभी हो। (पृ० ८७)

× ×

कहा फिर—**तात** आतुर हो रहे है। (पृ० ८६)

चेतन प्रकृति के सर्व प्रमुख अंग—मानव वर्ग से सम्बन्धित उक्त शब्दो की तरह तत्सम शब्दो की सूची बहुत लम्बी है, फिर भी उद्धृत उदाहरणों से ही कवि के तद्विषयक दृष्टिकोण का स्पष्ट परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार अन्य चेतन प्राणियो—पशु-पक्षियो—से सम्बन्धित अनेक तत्सम शब्द 'साकेत' मे मिलते है। कुछ शब्द नीचे प्रस्तुत है—

मत्त करिणी-सी दलकर फूल,
घूमने लगी आपको भूल। (पृ० ५३)

× × ×

शशक, विदित है तुझे आज वे नाथ कहाँ ? (पृ० २७६)

× × ×

हंस, छोड आये कहाँ मुक्ताओ का देश ? (पृ० ३०१)

× × ×

निरख सखी, ये **खंजन** आये। (पृ० २६६)

× × ×

चली **क्रौंचमाला** कहाँ लेकर बन्दनवार। (पृ ३०१)

थल और नभचारी अन्य जीव-जन्तुओ और कीट-पतगो से भी मानव-समाज आरंभ से परिचित रहा है। 'साकेत' में यत्र-तत्र इनके लिए भी तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है। उदाहरण—

भ्रमरी, इस मोहन मानस के
सुन, मादक है रस-भाव सभी। (पृ० ३००)

× × ×

चुटीली **फणिनी**-सी फुफकार। (पृ० ५५)

× × ×

रक्षक **तक्षक**-से लहर रहे थे उसके। (पृ० ?२१)

× × ×

सखि, न हटा **मकड़ी** को (पृ० ३१०)

× × ×

तितली, तूने यह कहाँ चित्रपट पाया ? (पृ० २२५)

थल, नभ और जल के चेतन प्राणियों के सिवा प्रकृति का दूसरा बड़ा वर्ग जड़ पदार्थों का है जिसमें वन, पर्वत, सागर, सरिता, पेड़-पौधे, फल-फूल आदि

आते है। मानव से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण काव्यो में भी इनका **वर्णन** आवश्यक हो जाता है। कवि को इस प्राकृतिक अंग के कार्य-व्यापार से सदैव प्रेरणा और स्फूर्ति मिलती है। 'साकेत' से कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे है—

ओ **निर्झर**, झर-झर नाद सुनाकर झड तू। (पृ० २२६)

× × ×

किन्तु **सुरसरिता** कहाँ, **सरयू** कहाँ ? (पृ० २१)

× × ×

पंकज तुम्हे दिये है,
और किसे पंक आज मैं दूँगी। (पृ० २८७)

× × ×

गमक रहा था **केतकी** का गध चारो ओर। (पृ० २६६)

× × ×

सिर-आँखो पर क्यों न **कुमुदिनी** लेगी वह पदवाली (पृ० २७८)

× × ×

वह **किंशुक** क्या हृदय खोलकर खिल गया,

× × ×

लो **पलाश** को पुष्प नाम भी मिल गया। (पृ० १५४)

× × ×

जिन पर **रसाल**, मधु, **निम्ब**, **जम्बु**, वट छाये। (पृ० २४४)

(२) भाषा-समृद्धि-द्योतक शब्द

व्यावहारिक तत्सम के समावेश से किसी भाषा के सम्बन्ध में यह तो भले ही कह लिया जाय कि उसको संस्कृत भाषा का ज्ञान था अथवा उसकी भाषा में शिष्टता की छाप है। परन्तु निश्चयपूर्वक यह कहना कठिन है कि उसकी भाषा साहित्यिक गुणों से युक्त है अथवा उसने भाषा की सुन्दरता या व्यंजना-शक्ति बढाने के उद्देश्य से उनका प्रयोग किया है। इस निष्कर्ष तक तो तभी पहुँचा जा सकता है जब कुछ पदों की प्रसग या विषयानुकूल पंक्तियों में तत्समता प्रधान शब्द-योजना द्वारा वैसा वातावरण उपस्थित कर दिया जाय कि पाठक भी भाव को हृदयंगम करने के लिए सामान्य भाषा-ज्ञान से काम न लेकर विशिष्ट ज्ञान का उपयोग करने को बाध्य हो जाय।

भावपूर्ण पद-योजना का संपूर्ण अर्थ साधारण पाठक के लिए शब्दार्थ जान लेने पर भी बोधगम्य नहीं होता, परन्तु व्युत्पन्नमति, कलामर्मज्ञ सहृदय पाठक ही

जिसके पूर्ण रसास्वादन में सफल होते है, स्थूल रूप से, उसी को वस्तुत· साहित्यिक और सार्थक तत्सम-प्रधान समझना चाहिए। ऐसे स्थलों पर तत्सम शब्दो के प्रयोग के दो उद्देश्य होते है—विषयानुसार वातावरण की उपस्थिति और भाषा-शृंगार।

शृंगार, प्रेमासक्ति, विश्व वर्णन आदि के समय कविवर गुप्त अपने पाठकों को भी उसी उच्चतम भाव-भूमि तक पहुँचा देते है जिससे प्रेरित होकर वह स्वयं उक्त कार्य में प्रवृत्त हुए थे। इसके साथ ही कवि प्रकृति के मनोरम रूपों, ऋतुओ के नेत्राकर्षक दृश्यों, विविध उत्सवों का चित्रण करते समय भी इतना तन्मय हो गए है कि सामान्य भाषा से उनका काम नही चलता और स्वभावतः उनकी लेखनी से प्रसंग और वातावरण के उपयुक्त तत्सम-प्रधान शब्दावली की सरस धारा निःसृत होने लगती है। गुप्त जी की प्रौढतम रचना 'साकेत' से कुछ शब्द निम्नलिखित है—

अध्वरयूप (पृष्ठ २१) शक्र-शरास, वैजयन्त, पौरजन (२२) वर-वर्णता, उत्कर्णता, वैदूर्य (३५) परिरम्भण (४०) अभिषेक-अम्बुद (६९) अरुन्तुद (७९) प्रातरम्बुज, रघुनन्दनानुज (८७) वैमानिक (१५२) पुजाकृति गुजित कुंज, पराग-सना (२२३) सितवसना, आमरण रहित, पंकज-पंक्ति (२४१) प्रोषित-पतिका, प्रणय-पुरस्सर (२७५) उपमोचित-स्तनो, प्रिय-विशिखअनी (२८०) नील-नभस्सर, तारक-मौक्तिक (२८६) उशीर (२८७) कुलिश, तोयद (२९६) करुणांकुर, ओषधोश (३०२) प्रावरण, नीहार, प्रतोद (३०६)

तद्भव शब्द

सस्कृत और प्राकृत से विकृत होकर जो शब्द हिन्दी में आये है, तद्भव कहलाते है। वस्तुत· किसी भी भाषा की निजी सम्पत्ति ये तद्भव रूप ही होते है, क्योंकि इनका निर्माण सर्वथा जनभाषा की प्रकृति के अनुरूप और बहुत स्वाभाविक रीति से होता है। 'साकेत' में तद्भव शब्दो की संख्या अनगिनत है, फिर भी उदाहरणस्वरूप कुछ शब्द प्रस्तुत हैं—

करो किसी की दृष्टि को शीतल सदय **कपूर**। (२८८)

कर्पूर > कप्पूर > कपूर

नाला पडा पथ में, किनारे **जेठ** जीजी खड़े। (२७६)

ज्येष्ठ > जेठ्ठ > जेठ

स्नेह जलाता है यह **बत्ती**। (२८५)

वर्त्तिका > वत्तिअ > बत्ती

श्री सीता के **कन्धे** पर। (१०७)

स्कन्ध>खन्ध>कन्धा

नन्ही **दूबा** का हृदय निकल पड़ा यह हाय ! (२६४)

दूर्बा>दुब्बा>दूब

शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़के, फैलें लताएँ **हरी** । (२७०)

हरित>हरिअ>हरा

सीस हिलाकर दीपक कहता । (२८१)

शीर्ष>सिस्स>सीस

आठ पहर **चौसठ** घड़ी स्वामी का हो ध्यान । (२६६)

अष्ट>अट्ठ>आठ
चतुःषष्ठि>चउंसट्ठि>चौसठ

हरी भूमि के **पात पात** में मैंने हृद्‌गति हेरी । (२७७)

पत्र>पत्त>पात

अनुकरणवाचक शब्द

वस्तु या पदार्थ की यथार्थ अथवा कल्पित ध्वनि के आधार पर बने शब्दो को अनुकरणवाचक शब्द कहा जाता है। कभी-कभी किसी देश या स्थान के नाम पर भी कुछ शब्द गढ लिये जाते है। जैसे चीन से चीनी, हिन्द से हिन्दी, मिश्र से मिश्री इत्यादि। कुछ शब्द अतिरिक्त अर्थ देने के लिए अपने ही शब्द की दुहरावट के अनुकरण पर बनते है। इसी तरह, अनुकरण वाले दुहरावटदार शब्दो में कोई ऐसा शब्द मुँह से निकल जाता है जिसका कोई वास्तविक अर्थ नही होता। कुछ उदाहरण प्रस्तुत है—

अपूर्व आलाप वही हमारा,
यथा विपंची **दिर दार दारा** । (२६८)

'दारा' के अनुकरण पर 'दिर-दार' शब्दो का निर्माण हुआ है, जो मात्र मात्रा पूर्ति करती है।

कुलिश किसी पर **कड़क** रहे है
आली, तोयद **तड़क** रहे है। . . .
भाव वही जो **भड़क** रहे है। (२६६)

यह सम्पूर्ण उदाहरण ही अनुकरणवाचक शब्दो से भरपूर है। कड़क, तड़क, फड़क, धड़क, अटक, भटक, भड़क—ये सभी शब्द वस्तु की कल्पित ध्वनि के आधार पर बने है।

सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, **झलमल झलमल** तारा।
(३०२)

इसमें ढलमल, झलमल आदि शब्द वस्तु की कल्पित ध्वनि के आधार पर निर्मित हुए है।

साराश यह कि भाषा की समृद्धि-वृद्धि के लिए कवि ने ऐसे ही शब्दों का नि संकोच प्रयोग किया है जो काव्यभाषा को शाब्दिक और आर्थिक श्रीसम्पन्नता प्रदान करने में सहायक हो सके। शब्दों के ये प्रयोग भावों के धारा-प्रवाह मे थपेड़े खाकर भी अटक कर रहनेवाले पत्थर के भारी-भरकम ढोको की तरह नही, वेग में और तीव्रता लाकर एक प्रकार का नाद-सौदर्य उत्पन्न करने वाली चिकनी और सुडौल बटियो की तरह है जिनकी छटा धारा के साथ तो दर्शक को मुग्ध करती ही है, उससे विलग हो जाने के पश्चात् भी कलामर्मज्ञों को विस्मय-विमुग्ध कर देती है। मस्तिष्क को कुरेद-कुरेद कर सप्रयास इनकी पकड़ का आयोजन नही किया जाता, प्रत्युत विषय, भावना और रस के अनुकूल शब्द शालीन सेवको की तरह स्वतः सामने आ जाते है। वस्तुतः गुप्त जी शब्दों के कुशल पारखी है।

'साकेत' में शब्द-शक्ति

शब्द-शक्ति से तात्पर्य शब्दो के अतर्निहित अर्थ को व्यक्त करने वाले व्यापार से है। लोक व्यवहार में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का कुछ न कुछ अभिप्रेत अर्थ होता है। यह अभिप्रेत अर्थ शब्द के जिस गुण द्वारा संकेतित, लक्षित या व्यंजित होता है, उसे ही शब्द-शक्ति कहते है।

अभिधा

प्रमाणों में जो स्थिति प्रत्यक्ष की है, शक्तियों में वही अभिधा की है। गुप्त जी के काव्य का समग्र रूप में आकलन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि भाव की सहज अभिव्यक्ति ही उनका उद्देश्य था, शिल्पविधान नही। उदाहरण—

क्यों न अब मै मत्त गज-सा झूम लूँ ?
कर-कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ।
कर बढ़ाकर, जो कमल-सा था खिला,
मुस्कराई और बोली उर्मिला—
मत्त गज बनकर विवेक न छोड़ना,
कर-कमल कहकर न मेरा तोड़ना। (पृ० ३८)

इसमें कवि ने लक्ष्मण और उर्मिला के बीच चल रहे परिहास को शब्दों में बाँधा है। लक्ष्मण जब अपने को गज-सा समझने लगते है और उर्मिला के कर-कमल को चूमने का प्रयास करते है, तब कितने सरल शब्दों में उर्मिला कह उठती हैं कि मेरे कमल सदृश हाथ को सचमुच कमल समझकर तोड़ मत देना क्योंकि हाथी को कमल की सुन्दरता एवं कोमलता से उतना आनन्द नही आता जितना उसे तोड़ने और मसलने में होता हैं।

लक्षणा

जब किसी पद या पद-समूह का साक्षात् संकेतित अर्थ अभिधा नामक शब्द शक्ति द्वारा नही खुल पाता है तो वहाँ एक दूसरा अर्थ भी होता है, जो मुख्य अर्थ से सम्बन्धित होता है। यह अभिप्रेत अर्थ रूढि या प्रयोजन के कारण अन्त-र्निहित होता है और जिस शब्द-शक्ति के द्वारा यह लक्षित हो जाता है, उसे ही लक्षणा कहते हैं। उदाहरण—

> शिशिर, न फिर तू गिरि वन में।
> जितना माँगे, पतझड़ दूँगी मैं इस निज नन्दन में।
> (पृ० ३०६)

यहाँ उर्मिला ने स्व-शरीर के लिए 'नन्दन' और विरहजनित क्षीणता के लिए 'पतझड़' शब्दों का प्रयोग किया है। अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध है और सादृश्य सम्बन्ध को सूचित करने के कारण गौणी लक्षणा है।

> श्रुतिपुट लेकर पूर्व-स्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट खोल,
> देख आप ही अरुण हुए है उनके पांडु कपोल। (२६१)

इसमें मानवीकरण प्रधान है, पर उसमें लाक्षणिक चित्रोपमता के द्वारा सजीवता का आरोप भी हुआ है।

> जाग उठे है मेरे सौ-सौ स्वप्न स्वयं हिलडोल,
> और सन्न हो रहे, सो रहे, ये भूगोल खगोल। (२६१)

यहाँ लक्षणा के द्वारा उक्ति चमत्कार ही नही, अमूर्त्त व्यापार और विराट् वस्तु का मूर्त्त चित्र भी प्रस्तुत किया गया है।

> बहू, बहू माँ चिल्लाई
> आँखे दूनी भर आई।
> हाथ हटा ये वल्कल है, मृदुतम तेरे करतल है।
> यदि ये छू भी जावेंगे, तो छाले पड़ आवेंगे। (११४)

वल्कल वस्त्र छूने से छाले नही पड़ते, अतः मुख्यार्थ की बाधा है। कौशल्या की

उक्ति का प्रयोजन सीता की शारीरिक कोमलता व्यक्त करना है, अतः प्रयोजनवती लक्षणा है ।

व्यंजना

अपने-अपने अर्थ का बोध कराकर अभिधा एवं लक्षणा नामक शब्द शक्तियों के विरत हो जाने पर जिस शब्दशक्ति के द्वारा व्यंग्यार्थ का बोध होता है, उसे व्यंजना शक्ति कहते है । भाषा की सबसे महत्त्वपूर्ण शक्ति है व्यजना और साहित्य इसका अपना क्षेत्र है । उदाहरण—

साल रही सखि, माँ की
झाँकी वह चित्रकूट की मुझको,
बोली जब वे मुझसे—
मिला न वन ही न भवन ही तुझको । (२७३)

इसमें 'भवन' शब्द ध्यान देने योग्य है । यहाँ उर्मिला के लिए कहा गया है कि 'न तुम्हे भवन ही मिला और न वन ही । आप्त प्रमाण से जब हमें ज्ञात है कि उर्मिला को भवन मिला, तव बुद्धि सीधे यह स्वीकार नही कर सकती कि उर्मिला को भवन नही मिला । यहाँ 'भवन' शब्द का सामान्य रूप में जो अभिधेयार्थ है, उसकी उपादेयता बिल्कुल नहीं है । कवि ने अपने भावावेश में जिस 'भवन' के न मिलने का उल्लेख किया है, वह भवन सामान्य नहीं कुछ विशेष है, जिसकी प्रतीति में अभिधा अशक्त है । अभिधा के अशक्त होने पर व्यंजना शब्द के सामान्य अर्थ को अर्थान्तर में संक्रमित करने को जोर मारती है । यहाँ 'भवन' शब्द का वाच्यार्थ स्वयं आश्रय बनकर प्रासंगिक उपयोगिता के लिए 'सुखमयता' रूप धर्म को ग्रहण करता है । अतः यहाँ 'भवन' का अर्थ 'सुखमय भवन' हो गया है ।

चूमता था भूमि तल को अर्द्ध विधु सा भाल ।
बिछ रहे थे प्रेम के दृग, जाल बनकर बाल ।। (४१)

'चूमना' क्रिया की कर्मता का सम्बन्ध मुख में ही प्रसिद्ध है । चुम्बन की कर्मता चाहे अन्यत्र भी रह ले, पर चुम्बन क्रिया के कर्तृत्व का ठेका तो एकमात्र मुख ने ही ले रखा है । पर यहाँ 'चूमना' भाल की क्रिया बतायी गयी है । यह सर्वथा व्यवहार विरुद्ध जान पडती है । फलतः यथाश्रुत सम्बन्ध की अनुपपत्ति लक्षणा को उकसाती है और लक्षणा वृत्ति केवल 'संयोग' मात्र अर्थ प्राप्त कराती है । चुम्बन भी एक प्रकार का संयोग ही है, जिसका कर्त्ता नियत है । यहाँ विशेष संयोग वाच्य है और सामान्य संयोग लक्ष्य । अतः वाच्यार्थ का लक्ष्यार्थ से सामान्य-विशेष भाव संबंध भी हुआ । अब रही बात प्रयोजनांश की । यह

विवक्षित अर्थ के वाचक शब्द के बावजूद भी जो अवाचक शब्द का प्रयोग किया गया, उसका एकमात्र प्रयोजन है क्रिया की मधुरता एवं रति भाव की झलक देना। वह माधुर्य एवं रतिभाव 'चुम्बन' शब्द के साहचर्यवश शीघ्र ही व्यजित हो उठता है।

'साकेत' में अलंकार

काव्य कला का एक उत्कृष्ट रूप है। कला का उद्देश्य ही अपने को पूर्ण रूप से ससार के समक्ष प्रदर्शित करना है। यह पूर्णता अलंकार के क्षेत्र में आसानी से सम्पन्न होती है, इसलिए अलंकार काव्य का आवश्यक साधन है। लेकिन इसका यह अर्थ नही कि अलकार का अनावश्यक प्रयोग होता चले।

अलकार की योजना और उसके विधान पर ध्यान देने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी वस्तु के रूप, गुण या व्यापार-जन्य भाव की तीव्रता की प्रतीति के लिए उसके निकट किसी अन्य वस्तु का अतिरिक्त चित्र उपस्थित किया जाता है जो वर्ण्यवस्तु के समान या उससे अधिक रूप-गुण व्यापार-सम्पन्न हो। यही द्वैतचित्र कल्पना विधान है।

अलंकार केवल भावो के उन्मेष के लिए ही प्रयुक्त नही होता, बल्कि भाषा के रूप-सौन्दर्य की वृद्धि के लिए भी उसका प्रयोग किया जाता है। भाषा की अभिधा शक्ति जहाँ मनोनुकूल भावाभिव्यक्ति में असमर्थ-सी प्रतीत होती है, वहाँ अलंकार-विधान द्वारा भाषा को एक नवीन समर्थता दी जाती है।

सुन्दरता का केवल बोध हमारी भाषात्मक सत्ता पर कोई प्रभाव नही डालता है। बोधावस्था में आनन्द की प्रतीति के लिए हमारा आत्मभाव सुरक्षित नही रहता है। किसी का मुख सुन्दर है, इसके लिए यदि हमारे मन में रति या अनुराग उत्पन्न होता है तो उक्त सौन्दर्यजन्य भाव के आस्वादन के लिए हम आत्मभाव को सुरक्षित रखना चाहते हैं। अलंकार उस भाव को आस्वादनीय होने में—उसका रस रूप परिणत होने में—हमारी सहायता करता है। ऐसी सहायता के क्रम में द्वैतचित्र-कल्पना का विधान अपेक्षित है। उदाहरणार्थ—

> लिखकर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा।
> व्योम-सिन्धु सखि, देख, तारक बुद-बुद दे रहा। (पृ० २८१)

समुद्र के साथ आकाश की अभेदता प्रतिपादित कर रूपक अलंकार द्वारा यहाँ एक चित्र व्योम का है, जिसमें सूर्य डूब चुका है और तारे निकल आये हैं। दूसरा चित्र सिन्धु का है, जिसमे बुद्बुद निकले हुए है। यहाँ वर्ण्यवस्तु आकाश का रात्रि-कालीन दृश्य है। उसकी प्रतीति के लिए समुद्र का दृश्य उपस्थित किया गया

तारक-चिह्न दुकूलनी, पी-पीकर मधु मात्र।
उलट गई श्यामा यहाँ, रिक्त सुधाधर पात्र ॥ (पृ० ३०४)

इस समासोक्ति अलंकार के उदाहरण में रात्रि का एक चित्र, जिसमे चन्द्रमा उगा है, वर्ण्य वस्तु है। उसकी प्रतीति के लिए मदपायिनी का दूसरा चित्र उपस्थित किया गया है, जिसने जी भर मधु पीकर पीने का बर्तन खाली छोड़ दिया है।

नाक का मोती अधर की कान्ति से
बीज दाड़िम का समझकर भ्रान्ति से
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है? (पृ० २६)

प्रसंग है उर्मिला-लक्ष्मण के सानुराग वार्त्तालाप का। लक्ष्मण प्रवेश करते है, उधर उर्मिला सहसा चुप हो गये शुक से प्रश्न पूछ रही —'तू मौन क्यों हो गया?' इस पर लक्ष्मण का उपर्युक्त प्रत्युत्तर है। उर्मिला ने नाक में मोती पहन रखा है, जो श्वेत होकर भी रागारुण अधरों की कान्ति मे भीगकर रक्तवर्ण हो गया है और अनार के दाने जैसा लग रहा है। फिर नासिका भी अपनी सुघरता और नुकीलेपन से शुक-चंचु का भ्रम पैदा कर रही है। चूंकि यहाँ शुक द्वारा एक वस्तु में किसी दूसरी वस्तु का ज्ञान कर लेना चित्रित किया गया है, अतः भ्रान्तिमान अलकार है।

अरुण संध्या को आगे ठेल, देखने को कुछ नूतन खेल।
सजे विधु की बेंदी से भाल, भामिनी आ पहुँची तत्काल।

यहाँ संध्या के अस्त होते-होते रात्रि के आगमन का वर्णन किया गया है। दो सहेलियों में एक दूसरे द्वारा धकेली जाकर उसके स्थान पर खड़ी होने की प्रतीति होती है। विधु की बिन्दी से सजकर यामिनी के आगमन का 'मानवीकरण' बड़ा ही आकर्षक है।

मैं अपने लिए अधीर नही,
स्वार्थी यह लोचन-नीर नही।

भाव की तीव्रतर करने के लिए आधुनिक कवि विशेषण को अपनी वास्तविक जगह से हटाकर ऐसी जगह पर नियोजित करता है जहाँ पर वह एक लाक्षणिक अर्थ देने लगता है। लाक्षणिक अर्थ से रचना का अर्थ सौन्दर्य बढ जाता है।

श्रीरामचन्द्र और सीता जी के साथ लक्ष्मण के वन जाने पर उर्मिला की सखी सुलक्षणा के प्रति यह उक्ति है। लोचन-नीर के स्वार्थी न होने की उक्ति द्वारा उर्मिला अपनी स्वार्थहीनता का परिचय ही यहाँ देती है। स्वार्थहीनता लोचन-नीर की नही, उसी की है। इसी को 'विशेषण-विपर्यय' अलंकार कहते है।

साकेत में छन्द

प्रत्येक भाव का एक स्वरूप होता है। वह स्वरूप नादमय होता है। कवि की सफलता इसी में होती है कि वह इष्ट भाव के स्वरूप को पहचान कर उसे उसी के अनुरूप छन्द मे बाँध दे। छन्द कविता की भाव-व्यंजना मे बहुत सहायक होते है। छन्द विश्रृंखल विचारो और भावो में एक श्रृंखला स्थापित करते है। कवि के हृदय-कोष में सहस्रो भाव सस्कार रूप से प्रस्तुत पड़े रहते है। किसी बाह्य प्रेरणा से सहसा सजग होकर वे अभिव्यक्ति के लिए तड़पने लगते है। अपने भावो को छन्दों में बाँधते समय कवि सरलता से उनकी अभिव्यक्ति को नियत्रित करने मे समर्थ हो जाता है। छन्द अभिव्यक्ति में सुसगति और सुषमा की प्रतिष्ठा करते है। छन्द कवि और पाठक के बीच की कड़ी है। वे कवि हृदय के साकार रूप है जो दूसरो के हृदयो में सरलता से बैठ जाते है। इसलिए छन्दों में प्रेषणीयता की मात्रा अधिक होती है। 'साकेत' से छन्दों के कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत है।

अनुष्टुप

इसका आरम्भ नगण एवं सगण नही होना चाहिए। इसके प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते है। इस छन्द के चारो चरणो में पाँचवाँ वर्ण अनिवार्यतः लघु और छठा वर्ण गुरु होता है। यथा—

सखी ने अंक में खीचा, दुःखिनी पड़ सो रही,
स्वप्न में हँसती थी हा, सखी थी देख रो रही।

मन्दाक्रांता

इसमें मगण, भगण, नगण, तगण और दो गुरु के क्रम से प्रत्येक चरण में सत्रह वर्ण होते है। चौथे, छठे, और सातवें वर्णों पर यति होती है। यथा—

दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोक-लीला,
सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला,
त्यागी भी है शरण जिनके, जो अनासक्त गेही,
राजा-योगी जय जनक वे पुण्यदेही, विदेही।

तोमर

यह १२ मात्राओं का छन्द है। इस छन्द के अन्त में ऽ। होते हैं। और आरम्भ में तगण या रगण के आधार पर श्रुति मधुर होता है। यथा—

प्रस्थान वन की ओर,
या लोक-मन की ओर?

होकर न धन की ओर,
है राम जन की ओर।

चौपाई

इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती है। इसके अन्त में ऽ। होता है। प्रबन्ध काव्यों में इसका प्रयोग बहुत सफल होता है। यथा—

तुमने निज सत्य-धर्म पाला,
सुत ने स्वापत्य-धर्म पाला।
पत्नी पति-सग बनी देवी,
प्रिय अनुज हुआ अग्रज सेवी।

उर्मिला

१७ मात्राओं का यह छन्द दूसरे सप्तक की दो आवृत्तियों और गुरु लघु के योग से बनता है। इसकी तीसरी और दसवी मात्रा अनिवार्यत. लघु होती है। यथा—

क्या यही साकेत है जगदीश,
थी जिसे अलका झुकाती शीश।
क्या हुए वे नित्य के आनन्द,
शान्ति या अवसन्नता यह मन्द ?

गीतिका

प्रत्येक चरण में २६ मात्राएँ होती है। १४-१२ मात्राओं पर यति होती है और अन्त में लघु-गुरु मात्राओं का प्रयोग होता है। यथा—

धैर्य देकर धीर मुनि ने ज्ञान के प्रस्ताव से,
तेल में रखवा दिया नृप-शव सुरक्षित भाव से।
दूत भेजे दक्ष फिर सन्देश के अक्षर गिना—
जो बुला लावे भरत को प्रकृत-वृत्त कहे बिना।

साकेत में प्रतीक एवं बिम्ब

मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से शेष सृष्टि के सम्पर्क में आता है। इस सम्पर्क के संस्कार अपने-अपने ढंग से मन में संकलित होते रहते है। कालान्तर में यह संकलन, बाह्य और अभ्यन्तर जगत् दोनो से संबंधित होकर दुहरा हो जाता है। इन्हीं संस्कारों को निश्चित रूप देने और प्रेषणीय बनाने के लिए भाषा की आवश्यकता होती है। भाषा वैज्ञानिकों के अनुसार जब सामान्य व्यवहार तक में विचारों एवं मनोभावों की विविधता, सूक्ष्मता तथा जटिलता की

अभिव्यक्ति के लिए भाषा का साधारण प्रयोग व्यर्थ सिद्ध होता है तब उस सम्पूर्ण व्यापार को व्यक्त करने के लिए प्रतीक, बिम्ब आदि सहायक तत्वो को अपनाता है।

प्रत्येक युग में कवियों ने अपनी तीव्र अनुभूतियो की अभिव्यक्ति के लिए प्रतीको से काम लिया है। ब्लेक की काव्य-रचनाओ के अर्थग्रहण में उन लोगों को विशेष कठिनाई होती हे जो केवल शब्दो के उस व्यापार से परिचित है जिसका सबंध तर्क तथा जीवन सामान्य अनुभवो से है। कवि-कर्म केवल साधारण सौन्दर्य के दर्शन तक सीमित नही है, बल्कि वह अलौकिक सौन्दर्य तक पहुँचने का उन्मत्त प्रयास है। जीवन से परे जो सौन्दर्य छिपा हुआ है उसके आभास से प्रेरित होकर कविगण ससीम जगत् की वस्तुओ और विचारों के अनेक मिश्रित निरूपणों द्वारा उस सौन्दर्य को प्राप्त करने के निमित्त कठिन प्रयास करते है जिसका सम्पूर्ण ऐश्वर्य अनन्त का ही एक अंश है। उदाहरण—

बरसों बीत गए, पर अब भी
है साकेत पुरी में रात।
तदपि रात चाहे जितनी हो,
उसके पीछे एक प्रभात॥ (पृ० ३८७)

'रात' के प्रयोग से साकेत पुरी के अवसाद की कितनी गहनता से व्यंजना हुई है कि वर्षों से उनका जीवन अवसादपूर्ण है। पर कवि उनके हृदय में आशा का सचार करता हुआ कहता है कि गहन-से-गहन रात के पश्चात् भी प्रभात का आगमन अवश्यभावी है, अतः साकेतपुरी के व्यक्ति इस घोर निराशा एवं दुख के पश्चात् आनन्द और सुख का अनुभव करेंगे।

आलि इसी वापी में हंस बने बार बार हम विहरे,
सुधकर उन छीटो की मेरे ये अंग आज भी सिहरे। (पृ० ३८८)

हंस का प्रयोग वैदिक काल से आज तक सच्चे पत्रवाहक के रूप में होता आया है। रात, हस आदि परंपरागत प्रतीक है, जो 'साकेत' में भी सहज प्राप्त है।

गजराज पंक में धँसा हुआ,
छटपट करता था फँसा हुआ।
हथनियाँ पास चिल्लाती थीं,
वे विवश विकल बिललाती थी। (पृ० १७४)

यहाँ 'गजराज' विषयवासना प्लुत व्यक्ति का प्रतीक, 'पंक' विषयवासना का प्रतीक और 'हथनियाँ' रानियो का प्रतीक है। ये अन्योक्तिमूलक प्रतीक है।

भ्रमरी, इस मोहन मानस के
सुन मादक है रस-भाव सभी
मधु पीकर और मदान्ध न हो,
उड़ जा, बस है अब क्षेम तभी। (पृ० ३००)

भ्रमर पर न जाने कितनी अन्योक्तियाँ कही गयी है। वियोग विधुरा उर्मिला ने भ्रमरी के द्वारा ऐसे व्यक्ति को चेतावनी दी है जो ससार में कुछ सुखोपभोग कर चुका है। साथ ही उर्मिला ने अपनी दशा भी अभिव्यक्त की है कि मै अपने प्रिय पति के साथ आनन्द एवं सुख का उपभोग कर रही थी कि क्रूर काल यह सहन न कर सका और मुझे पति से चौदह वर्ष के लिए वियुक्त कर दिया। यहाँ 'मोहन मानस' आकर्षक ससार और 'मधु' सुख-विलास का प्रतीक है।

किसने मेरी स्मृति को
बना दिया है निशीथ में मतवाला,
नीलम के प्याले में,
बुदबुद देकर उफन रही वह हाला। (पृ० ३०२)

यहाँ 'नीलम का प्याला' नीलाकाश का, 'बुद्बुद' तारे का और 'हाला' चन्द्रिका का प्रतीक है। ये उर्दू साहित्य से गृहीत प्रतीक है।

वह धूल स्वय समेट लूँ
तुझको तो निज फूल भेट दूँ। (पृ० ३८७)

'फूल' का प्रयोग गुप्त जी ने अश्रु के रूप मे भी किया है। यह कवि की अभिनव कल्पना का परिचायक है। ऐसे प्रतीक कवि के व्यक्तिगत हुआ करते है।

काव्यात्मक-बिम्ब हमें केवल काव्य तक सीमित नही रखता वरन् कवि के एकदम निकट ले जाता है जहाँ हम उसके संस्कारों, भावों, विचारों, रुचियों, प्रभावों, परिस्थितियो और मन.स्थिति तक को स्पष्ट देख सकते है। वस्तुतः बिम्ब दर्पण है जिसमें कवि के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है।

बिम्ब-विधान कला का क्रिया पक्ष है जो कल्पना से उत्थित होता है। कला-जगत् में कल्पना के विकास की एक सरणि है। कल्पना के बिम्ब का आविर्भाव होता है और बिम्बों से प्रतीक का। जब कल्पना मूर्तरूप धारण करती है, तब बिम्बो की सृष्टि होती है। उदाहरण—

सबने रानी को ओर अचानक देखा,
वैधव्य तुषारावृता यथा विधुलेखा। (पृ० २४७)

अर्थात् सबने रानी की ओर दृष्टिपात किया जो वैधव्य के तुषार से आवृत

विधुलेखा के सदृश दिखाई दे रही थी। यह बिम्ब रानी के स्वरूप को स्पष्ट करने में पूर्ण समर्थ है। विधवा रानी का श्वेत वसनों से आवृत रूप ही नहीं, उसकी उदास मन स्थिति, हीनदशा सबका चित्रण करने के कारण बिम्ब में संवेदना पूरित कर देने को पूर्ण शक्ति आ गयी।

अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार,
तिल-तिल काट रही थी दृग-जल-धार। (पृ० ३४१)

उर्मिला पूर्णतया प्रोषितपतिका है, पूरे चौदह वर्ष के लिए समस्त आशा और उपचार से परे। इसी बात को अधिक प्रभावकर बनाने के लिए गुप्त जी एक बिम्ब को सामने लाये। बिम्ब यही है कि जिस प्रकार किसी कठोर वस्तु को काटने के लिए तीक्ष्ण धार की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार उर्मिला के लिए 'अवधि शिला' ही वह गुरुतर भार वाली वस्तु है जिसके एक-एक क्षण को वह अपने अविरल आँसू की सुतीक्ष्ण धार से काट रही है। स्थिति स्पष्ट है कि उर्मिला प्रिय-वियोग में आठोयाम पिघल रही है। 'तिल-तिल काट रही थी' क्रिया में ऐन्द्रियता है। ऐसे 'काटना' एक सामान्य क्रिया है, लेकिन उर्मिला के प्रसंग में वह विशिष्ट हो गयी है।

सखे, जाओ तुम हँसकर भूल, रहूँ मै सुध करके रोती।
तुम्हारे हँसने में है फूल, हमारे रोने में मोती। (पृ० ३२१)

उर्मिला अपने प्रिय-वियोग मे यह नही चाहती कि समाज के हर प्राणी उसकी पीड़ा से पीड़ित हों, यहाँ कि वह अपने लक्ष्मण को भी इस मामले मे स्वतंत्र कर देती है। भले ही लक्ष्मण वियोग-दुख को भ्रातृ-सेवा मे भूल जायँ और खुशी-खुशी रह लें, लेकिन उर्मिला के जीवन में विछोह को छोड़कर और बचा ही क्या ? उर्मिला एक व्यावहारिक नारी है। वह सौन्दर्य जगत् और यथार्थ जगत् की तुलना करती है। हँसने और रोने मे भेद स्थापित करती है। अगर लक्ष्मण के हँसने पर फूल झड़ते है तो उर्मिला के रोने पर मोती बरसते है। फूल हर कही मिल जाते है लेकिन मोती हर किसी के पास नही होते। फिर भी उर्मिला अपने आँसू रूपी अमूल्य मोती को व्यर्थ नष्ट कर रही है। हँसता और रोता तो हर कोई है, लेकिन लक्ष्मण के हँसने और उर्मिला के रोने में सेन्द्रिय भाव है।

मेरे चपल यौवन बाल।
अचल अचल में पड़ा सो, मचल कर मत साल। (पृ० ३२६)

उर्मिला अपने उरोज को 'चपल यौवन-बाल' से संबोधित करती है। बालक हठी होता है, इसलिए वह अपनी माॅ से किसी भी दुर्लभ या सुलभ वस्तु के लिए हठ करने लगता है। आज उर्मिला का यौवन-बाल भी चपल बन बैठा है और उसके

अचल दामन में मचल रहा है। यौवन-बाल की चपलता से उर्मिला को अपने पवित्र दामन का ख्याल हो आता है क्योकि उसे प्रिय के लौटने तक प्रिय की वस्तु को ज्यो की त्यो सँजो कर रखनी है चपल, यौवन बाल और अचल—तीनों विशेषण भाव को ऐन्द्रिय बनाकर बिम्ब बन गए है।

'साकेत' में शास्त्रीय दोष

किसी भी भाषा का कितना भी समर्थ कवि क्यो न हो, उससे जाने-अनजाने कुछ काव्यगत दोष हो ही जाते है। उसमे भी जब समीक्षक कमर कस कर किसी कवि की रचना-विशेष में दोष चुगने के लिए घात लगाकर बैठ जाता हैं, तब तो कवि का बच पाना और भी मुश्किल हो जाता है। कवि भी पहले मानव है। कोई भी व्यक्ति मानव तभी तक है जब तक उससे गलती होती रहती है। गलतियों का न होना मानवेतर प्राणी का लक्षण है। अत. जब सामान्य जीवन में भूल होती रहती है और बहुलाश समाज माफ भी कर देता हैं, तो काव्यगत दोष का होना सहज स्वाभाविक है और उसे माफ करना समीक्षक वर्ग का कर्त्तव्य है। लेकिन किसी भी चीज की सीमा होती है। काव्य में इतना दोष मिले कि कवि का अभीष्ट ही नष्ट, अस्पष्ट एव विद्रूप हो जाय तो वैसा काव्य वस्तुतः उपेक्षणीय है। काव्य-शास्त्रीय क्षेत्र में दोषो की संख्या इतनी विस्तृत हो गयी है कि कोई भी रचना दोषरहित नही कही जा सकती।

'साकेत' में भी यत्र-तत्र कुछ दोष मिल जाते है जिनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१) **श्रुतिकटुत्व**—जहाँ मधुर पदो, पदांशों या वाक्यांश का प्रयोग किया जा सकता है वहाँ कटु पदों, पदाशों या वाक्याश का प्रयोग करना श्रुतिकटुत्व दोष माना जाता है।

उदाहरण—

देख भाव-**प्रवणता**, वर वर्णता,
वाक्य सुनने को हुई **उत्कर्णता**। (पृ० ३५)

(२) **च्युतसंस्कृति**—व्याकरण के विरुद्ध पद, पदाशों या वाक्यों का प्रयोग करना च्युतसंस्कृति दोष कहलाता है।

उदाहरण—

शरण—किसे छलता है। (पृ० २८२)

हिन्दी व्याकरण के अनुसार 'शरण' स्त्रीलिंग है, लेकिन यहाँ गुप्त जी ने पुल्लिग में प्रयोग किया हैं।

(३) **अप्रयुक्त दोष**—अप्रचलित पदों आदि के प्रयोग चाहे वे व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध ही क्यो न हो, अप्रयुक्त दोष के अन्तर्गत आते है।

उदाहरण—

अलग रहती है सदा ही **ईतियाँ,**
भटकती है शून्य मे ही भीतियाँ। (पृ० २३)

× × ×

दीर्घ खम्भे है बने **वैदूर्य** के,
ध्वजपटो में चिह्न कुल-गुरु सूर्य के। (पृ० ३५)

× × ×

बढी **तापिच्छ**-शाखा-सी भुजाएँ,
अनुज की ओर दाये और बाये। (पृ० ८०)

(४) **निरर्थक दोष**—जब पद पूर्त्यर्थ या छन्द मे लय आदि के लिए अनावश्यक पदों का प्रयोग किया जाता है तब वहाँ निरर्थक दोष माना जाता है।

उदाहरण—

दास बनने का बहाना किसलिए,
क्या मुझे दासी कहाना इसलिए।
देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रखो अहो। (पृ० ३०)

(५) **क्लिष्टत्व दोष**—जहाँ प्रयुक्त शब्द का अर्थज्ञान बड़ी कठिनता से होता हो वहाँ क्लिष्टत्व दोष होता है।

उदाहरण—

इसी दशा में रात कटी
छाती सी पौ प्रात फटी
अरुण भानु प्रतिभात हुआ
विरूपाक्ष-सा ज्ञात हुआ। (पृ० ७८)

इस उदाहरण मे उपमा के सहारे सुबह के आगमन का वर्णन है। लेकिन एक 'विरूपाक्ष' जैसा क्लिष्ट शब्द काव्य-प्रवाह को रोक लेता है, क्योकि सामान्य पाठको के लिए यह शब्द नही है।

(६) **व्यर्थपदता**—जिस वाक्य में मात्र छन्दपूर्ति के लिए अप्रासंगिक एवं अत्यन्त खटकने वाला पद भर दिया जाय वहाँ व्यर्थपदता दोष होता है।

उदाहरण-

नीद के भी पैर है कँपने लगे,
देख लो, लोचन-कुमुद झँपने लगे।

यहाँ 'देख लो' पद व्यर्थ है, क्योंकि इनकी कोई आवश्यकता नही थी। 'लोचन-कुमुद झँपने लगे' में जो बिम्ब कवि सम्प्रेषित करना चाहता है' उसका मानसिक साक्षात्कार तो श्रोता, पाठक करते ही है, फिर 'देख लो' का निर्देश क्यों ?

(७) **अविमृष्ट विधेयांश**—जहाँ रसाभासादि के प्रयोग से किसी शब्द का वह अर्थ व्यजित न हो सके जिसकी व्यजना कवि करना चाहता है, वहाँ अविमृष्ट विधेयाश दोष होता है।

उदाहरण—

वह मरों को मात्र पार उतारती,
यह यही से जीवितों को तारती। (पृ० २१)

यहाँ व्यतिरेक भाव स्पष्ट है। गुप्त जी साकेत की सरयू को सुरगगा से भी श्रेष्ठतर बतलाना चाह रहे है। लेकिन 'मात्र' पद 'मरों को' के बाद डाल देने से कवि द्वारा अभीष्ट स्थल पर प्रभाव का प्रकाश ही खत्म हो गया है, यही नही अर्थ का अनर्थ हो गया है वाक्य को पढने से कुछ ऐसा व्यजित होता है—सुरगंगा मरे व्यक्तियो को केवल पार उतारती है, जैसे सरयू मरे व्यक्तियो को पार उतारने के अतिरिक्त भी कुछ करती हो।

(८) **स्वशब्द वाच्य**—जब किसी रस-विशेष के विभावादि की उपयुक्त योजना न कर कवि उस रस का या उसके अगों का कथन मात्र कर देता है तब वह स्वशब्द वाच्य दोष माना जाता है।

उदाहरण—

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप। (पृ० २६८)

यहाँ शोक स्थायी भाव और वियोग श्रृंगार का कथन मात्र किया गया है। वियोग श्रृगार के अगो की सम्यक् योजना कर रस की निष्पत्ति नही की गयी है, इसीलिये यहाँ पर स्वशब्द वाच्य दोष है।

(९) **अनवीकृतत्व**—जहाँ अर्थ की योजना बिना किसी नवीनता या विलक्षणता के की जाय, वहाँ अनवीकृतत्व दोष होता है। यथा—

कोटि कलशों पर प्रणीत विहंग है,
ठीक जैसे रूप वैसे रंग है।

(१०) **ख्याति विरुद्धता**—जहाँ लोक या व्यवहार में प्रसिद्ध रूप में अर्थ का प्रतिपादन न किया जाय, वहाँ यह दोष माना जाता है। यथा—

सखि नील नभस्सर में निकला
यह हंस अहा तरता-तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नही
निकला जिनको चरता-चरता।

ऊपर जिन प्रमुख काव्य-दोषो की चर्चा की गई, इससे यह नही समझना चाहिए कि गुप्त जी के काव्य-दोषों की खान है। कोई भी कितना भी समर्थ क्यो न हो, अनजाने कोई न कोई भूल हो ही जाती है। दोषो का निर्देश मात्र विवेचना-पूर्त्ति के लिए किया गया है।

ऊपर मैने 'साकेत की भाषा' की जाँच के लिए विभिन्न संदर्भों को प्रस्तुत किया है। संक्षिप्त उद्धरणों से भी यह बोध हो जाता है कि सचमुच गुप्त जी का 'साकेत' अधिक परिमार्जित, अधिक नवीन एवं व्याकरण-सम्मत भाषा का रमणीय प्रमाण है।

साकेत : आलोचकों की दृष्टि में

'साकेत' मैथिलीशरण गुप्त की प्रौढतम रचना तो है ही, साथ ही आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यो में भी प्रमुख है। प्रत्येक काव्य के प्रकाशनोपरान्त आलोचक उसकी समीक्षा अपने-अपने दृष्टिकोण से करते है। आलोचको के दो वर्ग हो जाते है—पक्षधर और विपक्षी। सामान्य पाठक को दोनो कोटि के विचारकों को समीक्षा पढनी चाहिए, तभी काव्य का शुद्ध रूप स्पष्ट हो पाता है। 'साकेत' पर भी विभिन्न समीक्षको ने अपनी-अपनी दृष्टि से विचार किया है। इन विभिन्न विचारो को एकत्र कर आकलन करने से 'साकेत' के प्रति पाठक की निजो धारणा स्थापित करने में सुगमता होगी।

(१) हिन्दी कविता में युगान्तर—डा० सुधीन्द्र

★ 'साकेत' रामजीवन का चित्र है। इसको मै तुलसी के 'रामचरितमानस' की मानस-छाया ही मानता हूँ। वह युग का अभिनव रामचरितमानस ही है। वही आर्योचित उदात्त भावना, वही मर्यादावाद, वही लोकोद्धारक स्वरूप, वही विश्वजनीन व्यक्तित्व और वही देव-प्रतिम चारित्र्य। (पृ० ३६६)

★ 'साकेत' की सृष्टि में कवि की द्विविध दृष्टि है—उर्मिला-चित्रण और राम-गाथा गायन। इस महाकाव्य को यदि मैथिलीशरण जी राम का प्रत्यक्ष चरित बनाते तो अधिक लोकोपकार होता। उसमें भी वे उर्मिला के लिए हृदय का एक कोना दे सकते थे। (पृ० ३६६)

(२) गुप्त जी की काव्य-साधना—डा० उमाकान्त गोयल

★ 'साकेत' में स्पष्ट रूप से लक्ष्मण-उर्मिला एवं राम-सीता के दो सम्बद्ध पर भिन्न कथानकों का अन्तर-आयोजन हुआ है—कवि ने इन दोनों को एक ही में समाहित करने का प्रयास किया है। इतना जटिल कथानक स्वय तुलसी ने भी नहीं अपनाया था। (पृ० १०६)

★ गुप्त जी बड़ी योग्यता से नीरस का त्याग करते है। लंका-कांड के चिर-परिचित इतिवृत्त का सक्षेपण इसी कारण हुआ है। इसके विपरीत वे रसपेशलता के निमित्त मूल में अविद्यमान प्रकरणों की परिकल्पना करते है। 'साकेत' में उर्मिला-

लक्ष्मण-प्रेम-परिहास, उर्मिला-विरह, भरत-माडवी-संवाद आदि रामकाव्य के लिए नूतन प्रसग है। (पृ० ११४)

★ 'साकेत' में एक नवीन पात्र की सृष्टि—चिर उपेक्षिता उर्मिला की चरित्र-कल्पना और वह भी नायिका के रूप मे बहुत बडी सफलता है। वाल्मीकि एवं तुलसी के पश्चात् मौलिक रामकाव्य की सहस्रो पृष्ठो मे प्रकीर्ण प्रायः सम्पूर्ण कथा को लेकर साढे चार सौ पृष्ठों के एक सफल सरस काव्य-ग्रथ का निर्माण अपने आप में महती सिद्धि है। 'साकेत' मे कवि को आत्म साक्षात्कार के सुख का वास्तविक अनुभव हुआ है। 'साकेत' को युगधर्म—मानववाद की प्रतिष्ठा का अपूर्व गौरव प्राप्त है। (पृ० १२३)

(३) साकेत : एक अध्ययन—डा० नगेन्द्र

★ साकेत की कथावस्तु भारत की पुरानी कहानी है जिसमें वाल्मीकि और तुलसी ने पूर्ण रीति से आर्य-सस्कृति का प्रतिफलन कर उसे हमारे नित्य-प्रति के जीवनादर्श का प्रतीक बना दिया है। यह कहानी हमारे जीवन की चिरन्तन समस्याओं के समाधान स्वरूप न जाने कब से चली आती है और प्रत्येक युग 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' के अनुसार अपनी बुद्धि और विचारधारा के अनुरूप इसे समझता और गढता है। २०वी शताब्दी का यह युग भी अपनी विशेपताएँ रखता है। इसमें आकर भी इस कहानी ने घात-प्रतिघात सहे जिनका व्यक्तीकरण हमे प्रतिनिधि कवि मैथिलीशरण गुप्त की अमर कृति 'साकेत' मे मिला। (पृ० ३)

★ 'साकेत' जीवन-काव्य है। उसमे एक व्यक्ति का जीवन अनेक अवस्थाओं और व्यक्तियो के बीच अकित है—अतः उसमे मानव राग-द्वेषो की क्रीड़ा के लिए विस्तृत क्षेत्र होना स्वाभाविक है। (पृ० १४)

★ साकेत मे गुप्त जी के कवि जीवन का पूर्ण वैभव मिलता है। अतः उसका कलेवर अलकृत है। उसमें शकुन्तला का वन्य सौन्दर्य नही, उर्वशी का नागरिक विलास है यहाँ उनकी प्रतिभा ने कविता को नई-नई शृगार-सामग्री से चित्र-विचित्र सजाया है। (पृ० १२६)

(४) हिन्दी के आधुनिक महाकाव्य—डॉ० गोविन्दराम शर्मा

★ 'साकेत' में मैथिलीशरण गुप्त ने प्राचीन रामकथा को अपनी अद्भुत कवित्व-शक्ति द्वारा नवीन रूप दिया है। कवि ने अपने काव्य के परम्परागत कथानक मे यत्र-तत्र परिवर्तन किए है और नवीन उद्भावनाओं की भी सृष्टि की है। साकेत के कथानक में अधिकांश परिवर्तन उर्मिला, भरत और कैकेयी

जैसे पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को प्रकाश में लाने के लिए किए गए हैं। साकेत के परंपरागत कथानक में अधिक हेर-फेर के लिए गुंजाइश न थी, फिर भी गुप्त जी ने यत्र-तत्र उसमें परिवर्तन करके उसे मौलिक तथा आधुनिक रूप देने का सफल प्रयास किया है। (पृ० १८६)

★ साकेत का भावपक्ष जितना सबल और मार्मिक है, उसका कलापक्ष भी उतना ही परिष्कृत, प्रौढ़ और रमणीय है। भावानुकूल भाषा, रीति, गुण, छन्द-योजना और अलंकारों का प्रयोग काव्य के कलापच्छ का निर्माण करते हैं। साकेत के कलापक्ष में गुप्त जी की काव्य शैली का पूर्ण वैभव प्रकाश में आता है। (पृ० २२१)

★ साकेत में भारतीय संस्कृति के प्राचीन आदर्शों और वर्तमान युग की नवीन विचारधाराओं के बीच सुन्दर सामंजस्य दिखाई देता है। साकेत में गुप्त जी अपने युग तथा उसके प्रति अपने दायित्व को भूल नहीं सके है। उसमें जीवन की युगानुरूप व्याख्या हुई हैं। (पृ० २२६)

(५) साकेत की टीका—श्री फूल चन्द्र जैन

★ 'साकेत' गुप्त जी की अमर रचना है। यह महाकाव्य गुप्त जी के ही काव्य जीवन का गौरव-स्तूप नही है अपितु हिन्दी काव्य की अमूल्य भाव-निधि है। साहित्य के सहृदय पाठकों के गले की यह कृति कंठहार है। (पृ० १)

(६) हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष—शिवदान सिंह चौहान

★ 'साकेत' रचकर गुप्त जी ने महाकाव्यों की परम्परा में युगान्तर उपस्थित कर दिया। (पृ० ७५)

★ साकेत के राम वाल्मीकि के लोक-प्रतिनिधि, वीर-चरित और तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम लीलावतारी राम से भिन्न हैं। वे एक सामान्य मानव है, अपनी मानवता के उत्कर्ष द्वारा ही ईश्वरत्व के अधिकारी है। (पृ० ७६)

★ साकेत में वर्णनात्मक और प्रगीतात्मक दोनो शैलियो का सम्मिश्रण है। पहले आठ सर्गों में राम के अभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकूट में भरत-मिलन तक कथा-सूत्र वर्णनात्मक शैली में व्यवस्थित रूप से चलता है। इसके बाद नवें सर्ग में उर्मिला की वियोगावस्था की मनःस्थितियो का प्रगीतात्मक वर्णन है। (पृ० ७६)

(७) विचार और निष्कर्ष—डॉ० वासुदेव नन्दन प्रसाद

★ यद्यपि नवम सर्ग से कथाप्रवाह शिथिल पड गया है, तथापि काव्य की रमणीयता, विषाद की मार्मिकता और कल्पना की तीव्रता और शैली की विवि-

धता में मन इस तरह रम जाता है कि काव्य की कुज-वीथी से बाहर निकलने को जी नही चाहता। याद रखना चाहिए कि 'साकेत' का महाकाव्यत्व मुख्यतः गीति-शैली पर आधारित है। यह हिन्दी का एक अनूठा ग्रंथ है (पृ० २२१)

★ वास्तव में उर्मिला वेदना और मंगल-कामना की जीती-जागती तस्वीर है। उसे जीवन से बाहर प्राचीन विरहिणियों की कोटि में रखकर देखना उचित नही। उसका तप और त्याग अनुकरणीय है। उसके चरित्र-निर्माण मे नैतिकता, धर्म, समाज-आदर्श और राष्ट्रीय चेतना का समावेश है। (पृ० २२९)

उर्मिला के विषाद के विरोधी

(१) गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'—"बेचारी उर्मिला के हाथ में टूटी ढोल दे दी गयी है जिससे बेसुरी आवाज निकलती है।"

(२) विश्वम्भर 'मानव'—"मैथिलीशरण का साकेत में यदि कही सफलता नही मिली तो विरह-वर्णन मे।"

(३) जानकीवल्लभ शास्त्री—'साकेत की उर्मिला का विरह-वर्णन निरर्थक है।'

(४) महात्मा गाँधी—'उर्मिला का विषाद अगरचे भाषा की दृष्टि से सुन्दर हो, परन्तु साकेत मे शायद ही स्थान हो सकता।

उर्मिला के विषाद के पक्षपाती

(१) डॉ० धीरेन्द्र वर्मा—'नवम सर्ग को एक नन्हा सूर-सागर समझना चाहिए। एक नया गोपिका-विरह सामने आ जाता है।'

(२) डॉ० रामकुमार वर्मा—'नवम सर्ग के कुछ पद, जो उर्मिला ने अपने विरह में कहे है, वे सचमुच ही हिन्दी-साहित्य के अमर रत्न हैं।

(३) डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री—'काव्य-जगत् की उपेक्षिता उर्मिला के प्रति इस काव्य में न्याय किया गया है।··· ···उत्तर रामचरित में सीता रोती है, साकेत में उर्मिला।'

(४) डॉ० नगेन्द्र—'उर्मिला का विरह साकेत की सबसे महत्वपूर्ण घटना है।'

(५) प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—'उर्मिला की वियोग-दशा की व्यंजना में तो मार्मिकता का कोष [illegible] है।'